ओ३म्

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

॥ ओ३म् ॥

वैदिक प्रश्नोत्तरी

लेखक
परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

वे०शा० स्वामी वेदानन्दजी तीर्थ

की

पुण्य स्मृति

में

सादर समर्पित

—ब्र० जगदीश विद्यार्थी

भूमिका

आर्यजगत् के मूर्धन्य विद्वान् पूज्य स्वामी वेदानन्दजी तीर्थ खेड़ा खुर्द (देहली) में प्रतिवर्ष आध्यात्मिक शिविर का आयोजन किया करते थे। इन शिविरों में स्वामी आत्मानन्दजी सरस्वती और श्री आनन्द स्वामीजी भी अवश्य सम्मिलित हुआ करते थे। एक दिन व्याख्यान देते हुए श्री आनन्द स्वामीजी ने कहा–"आत्मा और परमात्मा के संवाद को तो कोई ऐसा भक्त ही प्रकट कर सकता है जिसपर परमात्मा की कृपा हो। स्वामीजी (वेदानन्दजी) पर परमात्मा की कृपा है। इन्होंने ब्रह्मोद्योपनिषद् में आत्मा के संवाद का रोचक चित्रण किया है, परन्तु अब स्वामीजी कंजूस हो गये हैं। मैं कई बार प्रार्थना कर चुका हूँ, परन्तु स्वामीजी पुस्तक की एक प्रति नहीं देते हैं।"

मुझे भी इस पुस्तक में उद्घाटित आत्मा और परमात्मा के संवाद को पढ़ने की इच्छा हुई, परन्तु स्वामीजी के पास कोई प्रति नहीं थी। बाजार में भी पुस्तक उपलब्ध नहीं थी। एक दिन संयोगवश एक कबाड़ी के यहाँ एक प्रति मिल गई। पुस्तक बहुत उत्तम लगी, परन्तु इस पुस्तक में दो मन्त्रों की व्याख्या तो बहुत विस्तृत थी शेष मन्त्रों की व्याख्या अति संक्षिप्त, अतः हमारा विचार हुआ कि इन सभी मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या की जाए। स्वामीजी द्वारा लिखित पुस्तक की यह विस्तृत व्याख्या है। हाँ, सरलता की दृष्टि से पुस्तक का नाम 'ब्रह्मोद्योपनिषद्' के स्थान पर "वैदिक प्रश्नोत्तरी" रख दिया गया है।

इस पुस्तक में जो कुछ उत्तम है, श्रेष्ठ है, वह सब स्वामीजी का है, जो त्रुटि है, कमी है वह मेरी अपनी है। यतः यह पुस्तक स्वामीजी की पुस्तक के आधार पर लिखी गई है, अतः उन्हीं की सेवा में सादर समर्पित है।

अलमतिविस्तरेण।

वेद सदन, ब्र० जगदीश विद्यार्थी
८-ई कमला नगर, दिल्ली-७

द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में

इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण हाथों-हाथ बिक गया था। सुधी पाठकों और विद्वानों ने इसकी प्रभूत प्रशंसा भी की, परन्तु इसका द्वितीय संस्करण शीघ्र नहीं निकल सका।

अब श्री अजयकुमार जी सञ्चालक विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द ने इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित किया है, तदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं। आशा है सुधी पाठक इसे अपनाएँगे और अध्यात्मरस में अपने को सराबोर करेंगे।

विद्वानों के लिए ये बने-बनाये व्याख्यान हैं। इन्हें आर्यसमाज के सत्सङ्गों में पढ़कर सुनाएँ। स्वयं पढें, दूसरों को पढ़ाएँ और पढ़ने के लिए प्रेरित करें।

और क्या लिखूँ। वेदों के गौरव और प्रश्नोत्तरी का महत्त्व आदि सभी विषयों पर, जो इस संस्करण में भी समाविष्ट हैं, प्रथम संस्करण में ही पर्याप्त लिख दिया था।

वेद-मन्दिर
इब्राहीमपुर, दिल्ली-३६
दूरभाष : ७२०२२४९

विदुषामनुचरः
—जगदीश्वरानन्द सरस्वती

सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूची

ऋग्वेद
यजुर्वेद
अथर्ववेद
सांख्यदर्शन
योगदर्शन
न्यायदर्शन
वैशेषिकदर्शन
वेदान्तदर्शन
मीमांसादर्शन
मनुस्मृति
अत्रि-स्मृति
याज्ञवल्क्य-स्मृति
बृहस्पति-स्मृति
वाल्मीकीय रामायण
महाभारत
श्रीमद्भागवत पुराण
कूर्मपुराण
देवीभागवत पुराण
गरुड़पुराण
शिवपुराण
केनोपनिषद्
कठोपनिषद्
मुण्डकोपनिषद्
तैत्तिरीयोपनिषद्
छान्दोग्योपनिषद्
बृहदारण्यकोपनिषद्
श्वेताश्वतरोपनिषद्
निरुक्त
शतपथब्राह्मण
तैत्तिरीयब्राह्मण
महाभाष्य
योगवासिष्ठ
भावप्रकाश निघण्टु
भगवद्गीता
विवेक-चूड़ामणि (शङ्कराचार्यकृत)
वैराग्यशतकम्
पञ्चतन्त्र
चाणक्यनीति
उत्तर-रामचरित
प्रश्नोत्तरी (शङ्कराचार्यकृत)
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (महर्षि दयानन्दकृत)
सत्यार्थप्रकाश (महर्षि दयानन्दकृत)

संस्कारविधि (महर्षि दयानन्दकृत)
गोकरुणानिधि (महर्षि दयानन्दकृत)
विवेकानन्द-साहित्य
ब्रह्मोद्योपनिषत् (स्वामी वेदानन्दजी तीर्थकृत)
कल्याण गौ अङ्क
हिन्दी ऋग्वेद (रामगोविन्द त्रिवेदी)
History of Sanskrit Literature by Macdonell.
Vedic Reader by Macdonell.
Historical Researches by Prof. Heeren.
Path to Peace by James Cousins.
Superiority of Vedic Religion by W.D. Brown.
Six System's of Indian Philosophy by Max Muller.
Science of Religion by Max Muller.
Chips from a German Workshop.
Life and Letters of Prof. Max Muller.
The Bible in India by Jacolliat.
Philosophy of Zoroastrianism.
The Teachings of the Vedās by Moris Philip.
Sanskrit English Dictionary by M. Williams.
Dayananda the Man by Arvindo.

इनके अतिरिक्त विभिन्न वेदभाष्यों, पत्र-पत्रिकाओं तथा विभिन्न कवियों के काव्यों से सहायता ली गई है। तदर्थ हम सभी के आभारी हैं।

वैदिक प्रश्नोत्तरी

वेदों का महत्त्व

जैसे दही में मक्खन, मनुष्यों में ब्राह्मण, ओषधियों में अमृत, नदियों में गङ्गा और पशुओं में गौ श्रेष्ठ है, ठीक इसी प्रकार समस्त साहित्य में वेद सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

वेद शब्द 'विद्' धातु से करण वा अधिकरण में 'घञ्' प्रत्यय लगाने से बनता है। इस धातु के बहुत-से अर्थ हैं जैसे 'विद ज्ञाने',[1] 'विद सत्तायाम्',[2] 'विद विचारणे',[3] 'विद्लृ लाभे',[4] 'विद चेतनाख्यानिवासेषु'[5]—अर्थात् जिनके पठन, मनन और निदिध्यासन से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनके कारण मनुष्य विद्या में पारङ्गत होता है, जिनसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य, सत्यासत्य, पापपुण्य, धर्माधर्म का विवेक होता है, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है और जिनमें सर्वविद्याएँ बीजरूप में विद्यमान हैं—वे पुस्तक वेद कहाती हैं।

वेद ईश्वरीय ज्ञान है। यह ज्ञान सृष्टि के आरम्भ में मानवमात्र के कल्याण के लिए दिया गया था। वेद वैदिक-संस्कृति के मूलाधार हैं। वे शिक्षाओं के आगार और ज्ञान के भण्डार हैं। वेद संसाररूपी सागर से पार उतरने के लिए नौकारूप हैं। वेद में मनुष्यजीवन की सभी प्रमुख समस्याओं का समाधान है। वेद सांसारिक तापों से सन्तप्त

---

१. अदादि। २. दिवादि। ३. रुधादि। ४. तुदादि। ५. चुरादिगण।

लोगों के लिए शीतल प्रलेप हैं, अज्ञानान्धकार में पड़े हुए मनुष्यों के लिए वे प्रकाशस्तम्भ हैं, भूले-भटके लोगों को वे सन्मार्ग दिखाते हैं, निराशा के सागर में डूबनेवालों के लिए वे आशा की किरण हैं, शोक से पीड़ित लोगों को वे आनन्द एवं उल्लास का सन्देश प्रदान करते हैं, पथभ्रष्टों को कर्त्तव्य का ज्ञान प्रदान करते हैं, अध्यात्मपथ के पथिकों को प्रभु-प्राप्ति के साधनों का उपदेश देते हैं। संक्षेप में वेद अमूल्य रत्नों के भण्डार हैं। महर्षि दयानन्द के शब्दों में "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।" महर्षि मनु के शब्दों में—**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।** (मनु० २.६) वेद धर्म की मूल पुस्तक है। वेद वैदिक विज्ञान, राष्ट्रधर्म, समाज-व्यवस्था, पारिवारिक-जीवन, वर्णाश्रम-धर्म, सत्य, प्रेम, अहिंसा, त्याग आदि को दर्पण की भाँति दिखाता है।

वेद मानवजाति के सर्वस्व हैं। महर्षि अत्रि के अनुसार—**नास्ति वेदात् परं शास्त्रम्।** (अत्रिस्मृति १५१) वेद से बढ़कर कोई शास्त्र नहीं है। इसीलिए महर्षि मनु ने कहा है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवनन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

—मनु० २.१६८

जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) वेद न पढ़कर अन्य किसी शास्त्र वा कार्य में परिश्रम करता है, वह जीते-जी अपने कुलसहित शीघ्र शूद्र हो जाता है।

वेद के मर्मज्ञ और रहस्यवेत्ता महर्षि मनु ने अपने ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर वेद की गौरव-गरिमा का गान किया है। वे लिखते हैं—**'सर्वज्ञानमयो हि सः।'** (मनु० २.७) वेद सब विद्याओं के भण्डार हैं। वेद में कौन-कौन-से विज्ञान भरे हुए हैं—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाः चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति॥
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥

—मनु० १२.९४, ९७, ९९

वेद पितर, देव और मनुष्य सबके लिए सनातन मार्गदर्शक नेत्र के समान है। वेद की महिमा का पूर्णरूपेण प्रतिपादन करना अथवा उसे पूर्णतया समझना अत्यन्त कठिन है।

चारों वर्ण, तीन लोक, चार आश्रम, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान विषयक ज्ञान वेद से ही प्रसिद्ध होता है।

यह सनातन (नित्य) वेदशास्त्र ही सब प्राणियों का धारण और पोषण करता है, इसलिए मैं इसे मनुष्यों के लिए भवसागर से पार होने के लिए परम साधन मानता हूँ।

मनुजी ने तो यहाँ तक लिखा है—तप करना हो तो ब्राह्मण सदा वेद का ही अभ्यास करे, वेदाभ्यास ही ब्राह्मण का परम तप है (मनु० २.१६६)। "जो वेदाध्ययन और यज्ञ न करके मुक्ति पाने की इच्छा करता है, वह नरक (दुःखविशेष) को प्राप्त होता है" (मनु० ६.३७)। "क्रम से चारों वेदों का, तीन वेदों का, दो वेदों का अथवा एक वेद का अध्ययन करके, अखण्ड ब्रह्मचारी रहकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए" (मनु० ३.२)। आज यदि महर्षि मनु का विधान लागू हो जाए तो सारे विवाह अयोग्य, अनुचित (unfit) हो जाएँ। महर्षि मनु ईश्वर को न माननेवाले को नास्तिक नहीं कहते, अपितु वेदनिन्दक को नास्तिक की उपाधि से विभूषित

करते हैं—नास्तिको वेदनिन्दकः (मनु० २.११)।

यद्यपि मनुस्मृति ही सर्वाधिक प्रामाणिक है, अन्य स्मृतियाँ बहुत पीछे बनी हैं और उनमें प्रक्षेप भी खूब हुए हैं, परन्तु वेद के विषय में सभी स्मृतियाँ एक ही बात कहती हैं, अतः यहाँ कुछ स्मृतियों के वचन दिये जाते हैं—

महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

यज्ञानां तपसाञ्चैव शुभानां चैव कर्मणाम्।
वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः॥

—याज्ञ० स्मृ० १.४०

यज्ञ के विषय में, तप के सम्बन्ध में और शुभ-कर्मों के ज्ञानार्थ द्विजों के लिए वेद ही परम कल्याण का साधन है।

अत्रिस्मृति श्लोक ३५१ में कहा है—

श्रुतिः स्मृतिश्च विप्राणां नयने द्वे प्रकीर्तिते।
काणःस्यादेकहीनोऽपि द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः॥

श्रुति=वेद और स्मृति—ये ब्राह्मणों के दो नेत्र कहे गये हैं। यदि ब्राह्मण इनमें से एक से हीन हो तो वह काणा होता है और दोनों से हीन होने पर अन्धा होता है।

बृहस्पतिस्मृति ७९ में वेद की प्रशंसा इस प्रकार की गई है—

अधीत्य सर्ववेदान्वै सद्यो दुःखात् प्रमुच्यते।
पावनं चरते धर्मं स्वर्गलोके महीयते॥

वेदों का अध्ययन करके मनुष्य शीघ्र ही दुःखों से छूट जाता है वह पवित्र धर्म का आचरण करता है और स्वर्गलोक में महिमा को प्राप्त होता है।

दर्शनकारों ने भी मुक्तकण्ठ से वेद की महिमा वर्णित

की है।

वैशेषिकदर्शन में कहा है—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्॥ —वै० १०.१.३

ईश्वर द्वारा उपदिष्ट होने से वेद स्वतःप्रमाण हैं।

एक अन्य स्थान पर वेद की महिमा का वर्णन इस प्रकार है—

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे। —वै० ६.१.१

वेद की वाक्य-रचना बुद्धिपूर्वक है। उसमें सृष्टिक्रम-विरुद्ध गपोड़े और असम्भव बातें नहीं हैं, अतः वह ईश्वरीय ज्ञान है।

सांख्यकार महर्षि कपिल को कुछ लोग भ्रान्ति से नास्तिक समझते हैं। वस्तुतः वे नास्तिक थे नहीं। महर्षि कपिल ने भी वेद को स्वतःप्रमाण माना है—

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्॥ —सांख्य ५.४६

वेद पौरुषेय-पुरुषकृत नहीं हैं, क्योंकि उनका रचयिता कोई पुरुष नहीं है। जीव अल्पज्ञ और अल्पशक्ति होने से समस्त विद्याओं के भण्डार वेद की रचना में असमर्थ है। वेद मनुष्य की रचना न होने से उनका अपौरुषेयत्व सिद्ध ही है।

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम्॥ —सांख्य० ५.५१

वेद अपौरुषेयशक्ति से, जगदीश्वर की निज शक्ति से अभिव्यक्त होने के कारण स्वतःप्रमाण हैं।

मन्त्र और आयुर्वेद के प्रमाण के समान आप्तजनों के वाक्यों के प्रामाणिक होने से वेद की भी प्रामाणिकता है। परमेश्वर परम-आप्त है तथा वेद असत्य, परस्पर विरोध और सृष्टिक्रम के विरुद्ध बातों से रहित है, अतः वेद परम-प्रमाण है।

योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि का कथन है—

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। —यो० १.२६

वह ईश्वर नित्य वेद-ज्ञान को देने के कारण सब पूर्वजों का भी गुरु है। अन्य गुरु काल के मुख में चले जाते हैं, परन्तु वह काल के बन्धन से रहित है।

वेदान्तदर्शन में वेद का गौरव निम्न शब्दों में प्रकट किया गया है—

शास्त्रयोनित्वात्। —वेदान्त० १.१.३

ईश्वर शास्त्र=वेद का कारण है, अर्थात् वेदज्ञान ईश्वर-प्रदत्त है। इस सूत्र पर शङ्कराचार्य का भाष्य पठनीय है। हम यहाँ उसका हिन्दी रूपान्तर दे रहे हैं—

"ऋग्वेदादि जो चारों वेद हैं, वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं। सूर्यादि के समान सब सत्यार्थों का प्रकाश करनेवाले हैं। उनको बनानेवाला सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त सर्वज्ञ-ब्रह्म ही है, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वगुणयुक्त इन वेदों की रचना कर सके ऐसा सम्भव नहीं है।"

एक अन्य सूत्र में कहा गया है—

अत एव च नित्यत्वम्। —वेदान्त० १.३.२९

इसी कारण से (परमात्मा से वेद की उत्पत्ति हुई है) वेद नित्य हैं।

मीमांसा शास्त्र के कर्त्ता जैमिनि ने तो धर्म का लक्षण ही इस प्रकार किया है—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः॥ —मीमांसा० १.१.३

जिसके लिए वेद की आज्ञा हो, वह धर्म और जो वेदविरुद्ध हो वह अधर्म है।

एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं—

नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्॥ —१.३.१८

शब्द नित्य है, नाशरहित है, क्योंकि उच्चारण क्रिया से जो शब्द का श्रवण होता है, वह अर्थ ज्ञान के लिए ही है। यदि शब्द अनित्य होता तो अर्थ का ज्ञान न हो सकता।

इस प्रकार समस्त शास्त्र एक स्वर से वेद के गौरव, नित्यता और स्वतःप्रमाणता का वर्णन करते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक स्थानों पर वेद के महत्त्व का प्रदर्शन करनेवाले स्थल उपलब्ध होते हैं। यहाँ हम केवल तैत्तिरीयब्राह्मण ३.१०.११.३ की एक आख्यायिका देना पर्याप्त समझते हैं।

"महर्षि भरद्वाज ने ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए ३०० वर्षपर्यन्त वेदों का गहन एवं गम्भीर अध्ययन किया। इस प्रकार निष्ठापूर्वक वेदों का अध्ययन करते-करते जब भरद्वाज अत्यन्त वृद्ध हो गये तो इन्द्र ने उनके पास आकर कहा—"यदि आपको सौ वर्ष की आयु और मिले तो आप क्या करेंगे?" भरद्वाज ने उत्तर दिया—मैं उस आयु को भी ब्रह्मचर्य-पालन करते हुए वेदाध्ययन में ही व्यतीत करूँगा। तब इन्द्र ने पर्वत के समान तीन ज्ञान-राशिरूप वेदों को दिखाया और प्रत्येक राशि में से मुट्ठी भरकर भरद्वाज से कहा—"ये वेद इस प्रकार ज्ञान की राशि या पर्वत के समान हैं, इनके ज्ञान का कहीं अन्त नहीं है। 'अनन्ता वै वेदाः' वेद तो अनन्त हैं। यद्यपि आपने ३०० वर्ष तक वेद का अध्ययन किया है तथापि आपको सम्पूर्ण ज्ञान का अन्त प्राप्त नहीं हुआ। ३०० वर्ष में इस अनन्त ज्ञान-राशि से आपने तीन मुट्ठी ज्ञान प्राप्त किया है।"

ब्राह्मणकार की दृष्टि में वेदों का क्या महत्त्व है, यह इस आख्यायिका से स्पष्ट है।

महर्षि वाल्मीकि ने ब्राह्मणों के मुख से वेद का गौरव इस प्रकार व्यक्त कराया है—

या हि नः सततं बुद्धिर्वेदमन्त्रानुसारिणी।
त्वत्कृते सा कृता वत्स वनवासानुसारिणी।
हृदयेष्वेव तिष्ठन्ति वेदा ये नः परं धनम्।
वत्स्यन्त्यपि गृहेष्वेव दाराश्चारित्ररक्षिताः॥

—वा० रा० अयो० ५४.२४,२५

जब श्रीराम वन को प्रस्थान कर रहे थे, उस समय अनेक ब्राह्मणों ने भी उनके साथ जाने का निश्चय कर श्रीराम से कहा था—हे वत्स! हमारा मन जो अब तक केवल वेद के स्वाध्याय की ओर ही लगा रहता था, अब उस ओर न लग आपकी वन-यात्रा की ओर लगा हुआ है। हमारा परम धन जो वेद है वह तो हमारे हृदय में है और हमारी स्त्रियाँ अपने-अपने पातिव्रत्य से अपनी रक्षा करती हुई घरों में रहेंगी।

रामायण के पश्चात् अब महाभारत में वेद के गौरव-विषयक विचारों का अवलोकन कीजिए। वेद की गौरव-गरिमा का गान करते हुए महर्षि व्यास लिखते हैं—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥[१]

—महा० शान्ति० २३२.२४

सृष्टि के आरम्भ में स्वयम्भू परमेश्वर ने वेदरूप नित्य दिव्यवाणी का प्रकाश किया, जिससे मनुष्यों की प्रवृत्तियाँ होती हैं।

अर्थसहित वेदाध्ययन के महत्त्व पर बल देते हुए महर्षि

---

१. गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ में पाठ भिन्न है।

व्यास लिखते हैं–

> यो हि वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः।
> न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञस्तस्य तद्धारणं वृथा॥
> भारं स वहते तस्य ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः।
> यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा॥
>
> –महा० शान्ति० ३०५.१३,१४

जो वेद और शास्त्रों को कण्ठस्थ करने में तत्पर है, परन्तु उनके अर्थ से अनभिज्ञ है, उसका कण्ठ करना व्यर्थ ही है। जो ग्रन्थ के तात्पर्य को नहीं समझता, वह ग्रन्थ को रटकर मानों उसका बोझ ही ढोता है, परन्तु जो अर्थ-ज्ञानपूर्वक पढ़ता है, उसका पढ़ना ही सार्थक है।

इसी तथ्य को महर्षि यास्क ने इस प्रकार प्रकट किया है–

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

–निरुक्त १.१८

जो मनुष्य वेद पढ़कर उसके अर्थों को नहीं जानता, वह भारवाही पशु अथवा वृक्ष के ठूँठ के समान है, परन्तु जो अर्थ को जाननेवाला है, वह उस पवित्र ज्ञान के द्वारा अधर्म से बचकर परम पवित्र होता है। वह कल्याण का भागी होता है और अन्त में दुःखरहित मोक्ष-सुख को प्राप्त होता है।

पाठकगण! इस सन्दर्भ का यह अर्थ मत लगाइए कि हमें अर्थ नहीं आते, अतः पढ़ने से छुट्टी मिल गई। 'वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना प्रत्येक आर्य का परमधर्म है।' प्रतिदिन वेदपाठ कीजिए। न पढ़ने से पढ़ना उत्तम है लीजिए इस विषय में महर्षि दयानन्द के विचार पढ़िए–

"अर्थज्ञानसहित पढ़ने से ही परमोत्तम फल की प्राप्ति

होती है, परन्तु न पढ़नेवाले से तो पाठमात्र-कर्त्ता भी उत्तम होता है। जो शब्दार्थ के विज्ञानसहित अध्ययन करता है वह उत्तमतर है, जो वेदों का अध्ययन कर उनके अर्थों को जानकर शुभ गुणों का ग्रहण और उत्तम कर्मों का आचरण करते हुए सर्वोपकारी होता है वह उत्तमोत्तम है।"

—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पठनपाठनविषयः

पाठकों ने मन्वादिस्मृतियों में, ब्राह्मणग्रन्थों एवं इतिहासग्रन्थों में वेद के गौरव-विषयक विचार पढ़े। अब हम पुराणों के कुछ स्थल प्रस्तुत करना चाहते हैं।

पुराण भी वेद की महिमा से भरे हुए हैं। श्रीमद्भागवत का कथन है—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः ।
वेदो नारायणः साक्षात्स्वयंभूरिति शुश्रुम ॥

—भा० पु० ६.१.४०

जो वेद में कहा है वही धर्म है और जो वेद के विरुद्ध है वही अधर्म है। वेद साक्षात् नारायणस्वरूप हैं, क्योंकि वे (भगवान् के श्वासमात्र) से स्वयं प्रकट हुए हैं, ऐसा हमने सुना है।

अब कूर्मपुराण का एक वचन देखिए—

एकतस्तु पुराणानि सेतिहासानि कृत्स्नशः ।
एकत्र परमं वेदमेतदेवातिरिच्यते ॥

—कूर्म० उ० ४६.१२९

एक ओर इतिहाससहित सम्पूर्ण पुराण और एक ओर परम वेद—इनमें वेद ही परम हैं, महान् हैं, श्रेष्ठ हैं।

देवीभागवत पुराण में वेद का महत्त्व इन शब्दों में प्रकट किया गया है—

सर्वथा वेद एवासौ धर्ममार्गप्रमाणकः।
तेनाविरुद्धं यत्किञ्चित्तत्प्रमाणं न चान्यथा॥
यो वेदधर्ममुज्झित्य वर्ततेऽन्यप्रमाणतः।
कुण्डानि तस्य शिक्षार्थं यमलोके वसन्ति हि॥

—देवीभाग० ११.१.२६, २७

धर्म के विषय में वेद ही प्रमाण है। जो कुछ वेद अविरुद्ध एवं वेदानुकूल है वही प्रामाणिक है, अन्य नहीं। जो वेद को छोड़कर दूसरे ग्रन्थों को प्रामाणिक मानता है, उसके लिए यमलोक में कुण्ड तैयार हैं, अर्थात् वह यमलोक में जलकुण्डों में गिरता है।

वेद की महिमा महान् है। मानव बुद्धि और उसका सीमित ज्ञान वेद की महिमा का बखान करने में असमर्थ हैं, अतः अन्त में गरुड़पुराण की सम्मति देकर हम इस प्रसङ्ग को समाप्त करना चाहते हैं।

सत्यं सत्यं पुनः सत्यमुद्धृत्य भुजमुच्यते।
वेदाच्छास्त्रं परं नास्ति न देवः केशवात् परः॥

—गरुड़० ब्र० का० १०२.५५

मैं दुहाई देकर और भुजा उठाकर सत्य-सत्य कहता हूँ कि वेद से बढ़कर कोई शास्त्र नहीं है और केशव[१]=परमात्मा से बढ़कर कोई देव नहीं है।

वेद संस्कृत-साहित्य के मुकुटमणि हैं, वैदिक संस्कृति और सभ्यता का मूलाधार हैं, इसीलिए वैदिक विचारकों ने, दर्शन और स्मृतिकारों ने, इतिहास और पुराणकारों ने वेद की

१. केशव का अर्थ भागवत के प्रसिद्ध टीकाकार श्रीधर स्वामी ने भी ऐसा ही किया है, यथा—कश्च ईशश्च तौ द्वौ वासयतीति केशवः, भगवान् विष्णुः। —भा० टीका १०.२९.४०।

महिमा के गीत गाये हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। वेद के वेदत्व और उसकी सर्वाङ्गपूर्णता पर न केवल भारतीय विद्वान् अपितु पाश्चात्य जगत् भी मोहित एवं मुग्ध है। जिन्होंने विमल वैदिक ज्ञान के अन्वेषण में अपना समय, श्रम और शक्ति व्यय की है, उन सभी व्यक्तियों ने वेद के अलौकिक ज्ञान की प्रशंसा की है। यहाँ कुछ सम्मतियाँ दी जाती हैं–

प्रो० हीरेन (Prof. Heeren) महोदय लिखते हैं–

The *Vedas* stand alone in their solitary splendour serving as beacon of Divine Light for the onword march of humanity. —*Historical Researches Vol. II P. 127*

जिस प्रकार वेद देंदीप्यमान हैं, इस प्रकार अन्य कोई ग्रन्थ नहीं चमकता। वे मनुष्यमात्र की उन्नति और प्रगति के लिए दिव्य प्रकाशस्तम्भ का काम देते हैं।

लार्ड मोर्ले ने घोषणा की–

What is found in the *Vedās* exists now-where else.

—*The Nineteenth Century and after*

जो कुछ वेदों में मिलता है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है।

१४ जुलाई १८८४ को पेरिस में आयोजित अन्तर्राष्ट्रिय साहित्य संघ (International Literary Association) के समक्ष निबन्ध पढ़ते हुए फ्रांसदेशीय विद्वान् लेओ देल्बो (Mons. Leon Delbos) ने कहा था–

The Rigveda is the most sublime conception of the great highways of humanity.

–हरबिलास शारदा लिखित Hindu Superiority पृ० १७९ से उद्धृत

ऋग्वेद मनुष्यमात्र की उच्चतम प्रगति और आदर्श की उच्चतम कल्पना है।

उबिनगन विश्वविद्यालंय के प्रो० पाल थीमा ने २६वीं अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य सभा (26th International Congress of Orientalists) में अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था–

The *Vedās* are noble documents—documents not only of value and pride to India but to the entire humanity because in them we see man attempting to lift himself above the earthly existence.

—*Hindustan Times, 6th Junuary 1964*

वेद वे पवित्र ग्रन्थ हैं जो न केवल भारतवर्ष के लिए अपितु समस्त संसार के लिए मूल्यवान् हैं, क्योंकि हम उनमें मनुष्य को सांसारिकता से ऊपर उठने (मोक्ष प्राप्त करने) का यत्न करते हुए पाते हैं।

प्रसिद्ध आइरिश कवि और दार्शनिक डा० जेम्स क्युजन अपनी पुस्तक Path to Peace (शान्ति का मार्ग) में लिखते हैं–

On that *(Vedic)* ideal alone, with its inclusiveness which absorbs and annihilates the causes of antogonisms, its sympathy which wins hatred away from itself, it is possible to rear a new earth in the image and likeness of the eternal heavens.

—*Path to Peace by Dr. James Cousins P. 60*

उस वैदिक आदर्श का अनुकरण करते हुए ही, जो सार्वभौम होने के कारण विरोध के कारणों को नष्ट करता है, जो सहानुभूति से घृणा को जीत लेता है, यह सम्भव है कि पृथिवी को पुनः स्वर्गधाम बनाया जा सके।

थ्योरो नामक अमेरिकन विद्वान् के मुख से वेद की महिमा इन शब्दों में निस्सरित हुई थी–

What extracts from the *Vedās* I have read fall on me like the light of a higher and purer luminary which describes a loftier course through a purer stratum—free

from particulars, simple, universal, the *Vedās* contain a sensible account of God.

—स्वामी ओंकार-लिखित Mother America
पृष्ठ ९ से उद्धृत

मैंने वेदों के जो उद्धरण पढ़े हैं, वे मुझपर एक उच्च, पवित्र प्रकाशपुञ्ज की भाँति पड़े हैं। वेद एक उत्कृष्ट मार्ग का वर्णन करते हैं। वेदों के उपदेश सरल, सार्वभौम हैं और जाति तथा देश के इतिहास से रहित हैं। उनमें ईश्वर-विषयक युक्तियुक्त विचार हैं।

श्री डबल्यू०डी० ब्राऊनं (W.D. Brown) महोदय ने वैदिक धर्म के विषय में निम्न उद्‌गार व्यक्त किये हैं—

It (*Vedic* Religion) recognises but one God. It is a thoroughly scientific religion, where religion and science meet hand in hand. Here theology is based upon science and philosophy.

—*The Superiority of the Vedic Religion*

वैदिकधर्म केवल एक ईश्वर का प्रतिपादन करता है। यह एक पूर्णतया वैज्ञानिक धर्म है, जहाँ धर्म और विज्ञान साथ-साथ चलते हैं। वेदों में धार्मिक सिद्धान्त विज्ञान और दर्शन पर आधारित हैं।

वेदों में वैज्ञानिक आविष्कारों की सत्ता स्वीकार करते हुए अमरीकी महिला ह्वीलर विलौक्स ने लिखा—

We have all heard and read about the ancient religion of India. It is the land of the great *Vedās*—the most remarkable works containing not only religious ideas for a perfect life, but also facts which all the science has since proved true. Electricity, Radium, Electorns, Airships all seem to be known to the seers who found the *Vedās*.

—*Sublimity of the Vedās P. 83*

हमने प्राचीन भारत के धर्म के विषय में पढ़ा और सुना है। यह उन महान् वेदों की भूमि है जो अत्यद्भुत ग्रन्थ हैं। इनमें न केवल जीवनोपयोगी धार्मिक तत्त्वों का ही वर्णन है, अपितु उन तथ्यों का भी प्रतिपादन है, जिन्हें विज्ञान ने सत्य सिद्ध किया है। विद्युत्, रेडियम, एलक्ट्रोन्स तथा विमान आदि सभी वस्तुएँ वेदों के द्रष्टा ऋषियों को ज्ञात प्रतीत होती हैं।

अपने "त्रयी-चतुष्टय" में प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने भी लिखा है-"वेदों में सारे विज्ञान सूक्ष्मरूप से विद्यमान हैं।"

बड़ौदा में "यन्त्रसर्वस्व" नामक एक हस्तलिखित ग्रन्थ मिला है जिसके लेखक महर्षि भरद्वाज हैं। इस ग्रन्थ के "वैमानिक-प्रकरण" में लिखा है कि "वेदों के आधार पर ही इस ग्रन्थ को बनाया गया है।"

प्रसिद्ध पारसी विद्वान् फर्दून दादा चानजी वेदों की महिमा का वर्णन करते हुए लिखते हैं-

The *Veda* is a book of knowledge and wisdom comprising the Book of Nature, the Books of Religion, the Book of Prayers, the Book of Morals and so on. The word *'Veda'* means wit, wisdom, knowledge and truly the *Veda* is codensed wit, wisdom and knowledge.

—*Philosophy of Zoroastrianism P. 100*

वेद ज्ञान की पुस्तक है। इसमें प्रकृति, धर्म, प्रार्थना, सदाचार आदि विषयों की पुस्तकें सम्मिलित हैं। वेद का अर्थ है ज्ञान और वस्तुतः वेद ज्ञान-विज्ञान से ओत-प्रोत हैं।

फ्राँस के प्रसिद्ध विद्वान् वाल्टेयर का मत है-

"केवल इसी देन (यजुर्वेद) के लिए पश्चिम पूर्व का ऋणी रहेगा।"

फ्रांस देश के अन्य विद्वान् जैकालियट ने अपने ग्रन्थ The Bible in India में लिखा है–

Astonishing fact! the Hindu Revelation *(Veda)* is of all revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with Modern Science as it proclaims the slow and gradual formation of the world.

—*The Bible in India Vol. II Ch.I*

कितनी आश्चर्यजनक सचाई है। सम्पूर्ण ईश्वरीय ज्ञानों में हिन्दुओं का ईश्वरीय ज्ञान वेद ही ऐसा है, जिसके विचार वर्त्तमान विज्ञान से पूर्णरूपेण मिलते हैं, क्योंकि वेद भी विज्ञानानुसार जगत् की मन्द और क्रमिक रचना का प्रतिपादन करते हैं।

ईसाई पादरी मौरिस फ़िलिप (Rev. Moris Philip) ने भी वेद को ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार किया है। वे लिखते हैं–

The conclusion, therefore, is inevitable viz: that the development of religious thought in India has been uniformly downward, and not upward, deterioration and not evolution. We are justified, therefore, in concluding that the higher and pure conceptions of the *Vedic Aryans* were the results of a primitive Divine Revelation.

—*The Teachings of the Vedās P. 23 I*

अत: हमारे लिए इस परिणाम पर पहुँचना अनिवार्य है कि भारत में धार्मिक विचारों का विकास नहीं हुआ, अपितु ह्रास ही हुआ है, उत्थान नहीं अपितु पतन ही हुआ। इसलिए हम यह परिणाम निकालने में न्यायशील हैं कि वैदिक आर्यों के उच्चतर और पवित्रतर विचार एक प्रारम्भिक ईश्वरीय-ज्ञान का परिणाम थे।

अन्त में जे० मास्करो (J. Mascaro M. A.) की सम्मति उद्धृत कर हम आगे बढ़ेंगे। वेद की तुलना आत्मा के

हिमालय से करते हुए वे लिखते हैं—

If a Bible of India were compiled.........the *Veda* the Upanishads and the *Bhagvad Gita* would rise above the rest like *Himalayas* of the spirit of man.

—*The Himalayas of the Soul P. 151*

यदि भारत की कोई बाइबल सङ्कलित की जाए तो उसमें वेद, उपनिषदें और भगवद्गीता मानवीय आत्मा के हिमालय के समान सबसे ऊपर उठे हुए ग्रन्थ होंगे।

ये तो हुए कुछ निष्पक्ष विचारकों के निष्पक्ष विचार, परन्तु अनेक पाश्चात्य ईसाई लेखकों ने अपना जीवन और जवानी वेदों के सम्बन्ध में खोज करने में इसलिए लगा दी कि वे वेद के गौरव को नष्ट करके बाइबल के महत्त्व और गौरव को प्रदर्शित कर सकें। ऐसे लेखकों में मैक्समूलर अग्रगण्य है। मैक्समूलर ने ऋग्वेद की भूमिका में स्वयं ही लिखा है कि उन्हें २५ वर्ष तो केवल इसके लिखने में ही लगे, फिर छपवाने में २० वर्ष और लगे। इस ग्रन्थ को प्रकाशित कराने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने नौ लाख रुपये दिये, किन्तु उससे भी कार्य पूरा नहीं हुआ।

एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि आखिर मैक्समूलर ने यह सब-कुछ क्यों किया? उत्तर है वेद के गौरव और महत्त्व को घटाने के लिए। यह हमारी अपनी कपोलकल्पना नहीं है। यह बात मैक्समूलर के 'जीवन और पत्रों' (Life and Letters of Max Mullar) से सिद्ध है।

मैक्समूलर राथ का सहपाठी था। अपने गुरु की छाप के अतिरिक्त २८ दिसम्बर १८५५ की मैकाले की भेंट ने भी उसपर पूर्ण प्रभाव डाला था। मैकाले एक घण्टे तक उसे भारत-विरोधी विचार देता रहा। उस भेंट के पश्चात् मैक्समूलर

लिखता है–

I went back to Oxford as a sadder and wiser man.

अर्थात् मैं गम्भीर और बुद्धिमान् बनकर आक्सफोर्ड वापस लौटा।

बस, अब क्या था। उसने वेद के विषय में विषवमन करना आरम्भ कर दिया। उसने घोषणा की–

"Large number of *Vedic* hymns are childish in extreme, tedious, low, common place."

—*Chips from a German Wrokshop P. 27*

वैदिक सूक्तों की अत्यधिक संख्या बचपन अथवा मूर्खता की पराकाष्ठा से पूर्ण, नीरस और तुच्छ विचारों से भरी है।

मैक्समूलर ने समय-समय पर अपने मित्रों और सम्बन्धियों को जो पत्र लिखे हैं, उनसे उसके मनोगत विचारों का पता चलता है। यहाँ हम कुछ पत्र उद्धृत करना चाहते हैं।

१८६६ में उसने अपनी पत्नी को लिखा–

I hope, I shall finish the work and I feel convinced though I shall not live to see it, yet this edition of mine and the translation of the *Veda* will hereafter tell to a great extent on the fate of India and on the growth of their religion and to show them what the root is, I feel sure, it is the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three thousand years.

मुझे आशा है, मैं उस कार्य (वेदों के सम्पादन) को पूर्ण कर दूँगा। यद्यपि मैं उसे देखने के लिए जीवित नहीं रहूँगा, परन्तु मुझे पूर्ण निश्चय है कि मेरा यह वेदों का अनुवाद भारत के भाग्य और लाखों भारतीयों के आत्मविकास पर एक वज्र-प्रहार होगा। वेद उनके धर्म का मूल है और

मूल को दिखा देना, उससे पिछले तीन सहस्र वर्षों में जो कुछ निकला है, उसको मूलसहित उखाड़ फेंकने का सबसे उत्तम प्रकार है।

१६ दिसम्बर १८६८ को उसने तत्कालीन भारत के मन्त्री ड्यूक आफ आर्गायल (Duke of Argyle) को लिखा—

The ancient religion of India is doomed and if Christianity does not step in, whose fault will it be.

अर्थात् भारत के प्राचीन धर्म का नाश तो अब सुनिश्चित है यदि अब ईसाइयत उसका स्थान ग्रहण न करे तो यह किसका दोष होगा?

एक पत्र में उसने अपने पुत्र को लिखा—

Would you say that any one sacred book is superior of all others in the world? It may sound prejudiced but taking all in all, I say the New Testament. After that I should place the Koran, which in its moral teachings is hardly more than a later edition the New Testament, than would follow the Old Testament, the Southern Buddhist Tripitaka, the Laote King of Laotize, the Kings of Confucious, the *Veda* and the Avesta. there is no doubt however, that the ethical teaching is for more prominent in the Old and New Testament than in any other sacred Book. Therein lies the distinctiveness of the Bible. Other sacred books are generally collections of whatever was remembered of ancient times.

क्या तुम कहोगे कि संसार में कोई ऐसी पवित्र पुस्तक है जो सबसे श्रेष्ठ है? यह बात पक्षपातपूर्ण हो सकती है फिर भी मैं कहूँगा कि नव-व्यवस्था सर्वोत्तम है। उसके पश्चात् मैं कुरआन को रक्खूँगा, जो अपनी सदाचार सम्बन्धी शिक्षाओं में नव-व्यवस्था का ही अनुवाद है। इनके पश्चात्

प्राचीन व्यवस्था, तत्पश्चात् बौद्धों का त्रिपिटक, तत्पश्चात् वेद और अन्त में अवेस्ता। इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं है कि प्राचीन और नव-व्यवस्था की सदाचार-सम्बन्धी शिक्षाएँ अन्य पवित्र ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इसी बात में बाइबल का महत्त्व है। अन्य पवित्र ग्रन्थ तो प्राचीनकाल की स्मृतियों का सङ्कलनमात्र हैं।

कितने खेद की बात है कि मैक्समूलर ने वेद को बाइबल और कुरआन से भी घटिंया बताया है जबकि वेद की तुलना में शेष पुस्तकें नगण्य ही हैं। मैक्समूलर के ये विचार उसकी अज्ञानता के परिचायक हैं। वस्तुतः उसने सभ्यसमाज की दृष्टि में वेदों के महत्त्व को कम करने के लिए ही ऐसे विचार व्यक्त किये हैं।

मैक्समूलर के एक परम स्नेही ई०बी० पुसे (E.B. Pussey) ने उनके कार्य की प्रशंसा करते हुए उन्हें एक पत्र लिखा था, जिसमें उसने लिखा–

"Your work will form a new era in the efforts for the conversion of India....".

आपका कार्य भारतीयों को ईसाई बनाने के प्रयत्न में नवयुग लानेवाला सिद्ध होगा।

मैक्समूलर की भाँति मोनियर विलियम्स का उद्देश्य भी पवित्र न था। वे अपने 'संस्कृत-इङ्गलिशकोष' की भूमिका में लिखते हैं–

"मेरे समालोचक और कुछ स्पष्टवादी मित्र इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि मैंने अपने जीवन का अधिकांश समय कोष और व्याकरण लिखने के शुष्क कार्य में क्यों लगाया है? उसके समाधान में मैं कहना चाहूँगा–

That the special object of his (Boden's) munificent bequest was to promote the translation of the Scriptures into Sanskrit, so as to enable his countrymen to proceed in the conversion of the natives of India to the Christian Religion...Surely then it need not be thought surprising, if following in the footsteps of my venerated master, I have made it the chief aim of my personal life to provide facilities for the translation of our sacred Scriptures into Sanskrit.

—*Sanskrit English Dictionary, Preface P. IX*

बोडन महोदय के उदार दान का प्रमुख उद्देश्य ईसाइयों के धर्मग्रन्थों का संस्कृत में अनुवाद कराना था, जिससे उसके देशवासी भारतीयों को ईसाई बनाने में अग्रसर हो सकें। ऐसी स्थिति में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है यदि मैंने अपने आदरणीय स्वामी के पदचिह्नों पर चलते हुए अपने जीवन का मुख्योद्देश्य अपने पवित्र ग्रन्थों का संस्कृत अनुवाद करने के साधन जुटाने में लगा दिया है।

ग्रिफ़िथ महोदय ने चारों वेदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। उनका उद्देश्य भी वेद के गौरव को बढ़ाना नहीं था। उन्होंने प्रायः सायण, महीधर और उव्वट आदि का ही अनुकरण किया है। उनके अनुवाद को पढ़कर किसी भी व्यक्ति को वेदों के प्रति श्रद्धा नहीं हो सकती। यहाँ दिग्दर्शनार्थ केवल एक मन्त्र प्रस्तुत करते हैं।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥

—ऋ० १०.११७.३

ग्रिफ़िथ महोदय ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—

I saw the Herdsman, him who never resteth,
Approaching and departing on his path-ways,
He clothed in gathered and diffusive splendour,
Within the worlds continually travels.

अर्थात् मैंने एक ग्वाले को देखा जो अपने मार्ग पर आता और जाता हुआ कभी विश्राम नहीं लेता। कभी फटे-पुराने कपड़ों में और कभी सुन्दर वस्त्रों में वह संसार में नित्य गमन करता है।

ग्रिफिथ महोदय ने पादटिप्पणी में Herdsman का अर्थ Sun सूर्य दिया है जो तीन काल में भी असम्भव है। गोपा का अर्थ तो सूर्य हो सकता है Herdsman का कदापि नहीं। Herdsman का अर्थ तो ग्वाला ही होगा। यदि हर्डज्मैन का अर्थ सूर्य भी मान लिया जाए तो प्रश्न यह है कि सूर्य के वस्त्र कौन-से हैं?

वेदों के महत्त्व को कम करने के लिए ही इन ईसाई लेखकों ने इस प्रकार के अर्थ किये हैं। अनेक भारतीय विद्वान् भी उनका अन्धानुकरण करते हैं। वेदों को बच्चों की बिलबिलाहट और गड़रियों के गीत सिद्ध करने के लिए ही ऐसे दूषित अर्थ किये गये हैं। हम इस मन्त्र का ठीक अर्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं—

आत्म-साधना में लीन किसी योगी की घोषणा है—मैंने सीधे और उलटे मार्गों से विचरण करनेवाले अविनाशी, इन्द्रियों के स्वामी आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है। वह आत्मा अपने कर्मों के अनुसार उत्तम और अधम दशाओं को धारण करता हुआ लोकों में बारबार आता रहता है।

मन्त्र में कितने महान् और उदात्त विचार हैं! गो का अर्थ इन्द्रिय भी होता है। इन्द्रियों का स्वामी होने से आत्मा

गोपा है। वह कर्म करने में स्वतन्त्र होने के कारण उलटे और सीधे जिस भी मार्ग में चाहे गमन कर सकता है। अपने कर्मों के अनुसार उत्तम और निकृष्ट शरीरों को धारण करते हुए वह बार-बार संसार में जन्म लेता है।

मैक्डानल द्वारा लिखित वैदिक रीडर (Vedic Reader) आज प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाती है। इसे पढ़कर विद्यार्थियों में वेद के प्रति श्रद्धा नहीं हो सकती। इस रीडर में वेदमन्त्रों के अटकलपच्चू और अशुद्ध अनुवाद दिये गये हैं। मन्त्र की शिक्षा क्या है यह तो किसी भी मन्त्र से स्पष्ट ही नहीं होता है। यहाँ हम अग्नि-सूक्त के प्रथम मन्त्र पर ही कुछ विवेचन करते हैं-

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्।। —ऋ० १.१.१

मैक्डानल महोदय ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है-

I magnify Agni the domestic priest, the divine ministrant of the sacrifice, the invoker, best bestower of treasure.

अर्थात् मैं गृह्य-पुरोहित अग्नि का वर्णन करता हूँ जो यज्ञ का दिव्य प्रबन्धक है, जो प्रार्थनीय और धनों को देनेवाला है।

वेद के सभी शब्द यौगिक हैं। वेद में पुरोहित का अर्थ है-पुर एनं दधति-जिसे आगे रक्खा जाए। गृह्य-पुरोहित तो परवर्ती काल का शब्द है, इसे वेद पर लादना पक्षपात ही है। मन्त्र का ठीक अर्थ इस प्रकार है-

मैं (पुरोहितम्) सबसे पूर्व विद्यमान (यज्ञस्य देवम्) संसार यज्ञ के प्रकाशक (ऋत्विजम्) ऋतुओं को सङ्गत

करनेवाले (होतारम्) अत्यन्त दानी (रत्नधातमम्) रत्न-निर्माता (अग्निम्) अग्नि की (ईळे) स्तुति करता हूँ।

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। जगत् की उत्पत्ति से भी पूर्व वर्त्तमान होने के कारण प्रभु पुरोहित हैं। शरीर के निर्माण होने से पूर्व जीव विद्यमान होता है, अतः जीव भी पुरोहित है। संसार के सब पदार्थों से पूर्व अग्नि के सूर्यरूप में दर्शन होते हैं, अतः अग्नि भी पुरोहित है।

संसार का रचयिता होने के कारण ईश्वर इस संसार का प्रकाशक है। शरीर-यज्ञ का सञ्चालक होने के कारण जीवात्मा भी यज्ञ का देव है। अग्निहोत्र का साधन होने से अग्नि भी यज्ञ का प्रकाशक है।

ऋतुओं को व्यवस्थित करने के कारण प्रभु ऋत्विक् हैं। यज्ञ करने के कारण जीव भी ऋत्विक् हैं। अग्नि=सूर्य के कारण ही ऋतुओं का परिवर्तन होता है, अतः अग्नि ऋत्विक् है।

प्रभु ने जीवों के कल्याण के लिए नाना साधन और सामग्री जुटाई हैं। वह महादानी है, अतः होता है। जीव कर्मफलों का भोक्ता होने के कारण होता है। यज्ञ का साधन होने के कारण अग्नि भी होता है।

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, आदि का निर्माता होने के कारण प्रभु रत्नधाता है। संसार के पदार्थों का उपभोग लेने के कारण जीव भी रत्नधातमम् है। भूगर्भ में पड़े कोयले को रत्न के रूप में परिवर्तित करने के कारण अग्नि भी रत्नधातमम् है।

मन्त्र में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों अर्थों की सुन्दर सङ्गति है।

इनके अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों ने भी वेद के ऊपर कुठाराघात किया है। तनिक उसका भी अवलोकन कीजिए–

"कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीयसंहिता (७.१.८.२) में 'श्रद्धादेव' शब्द आया है, जिसका सीधा अर्थ श्रद्धालु है, परन्तु एगलिङ्ग ने इसका अर्थ 'देव-भीरु' (God fearing) कर डाला है। 'पीटर्सबर्ग लेक्जिकन' (संस्कृत जर्मन महाकोष) के लेखक राथ और बोट्लिंक ने अश्वा शब्द के तृतीया एक वचन 'अश्वया' का अर्थ 'कुत्ते के समान' लिख मारा है। अश्वया का अर्थ है घोड़ी के द्वारा। यही नहीं 'हरप्पा' और 'मोहनजोदड़ो' की खुदाई करानेवाले और 'इण्डो सुमेरियन सील्स डिसाइफर्ड' के लेखक एल०ए० वैडल ने तो इतनी दूर तक लिखा है कि "ईराक की सुमरजाति (अनार्य) ने ही आर्यों को सभ्य बनाया। उनके एदिन शब्द से सिन्धु शब्द बना है। सुमेरियन भाषा के 'मुद्गल' शब्द से वेद का 'मुद्गल' शब्द बना है।" इसी प्रकार सुमेरियन कन्व से कण्व, बरम से ब्राह्मण और 'तप्स' (अक्कद के सगुन का मन्त्री) से 'दक्ष' बना। वेद के पूजा और मीन शब्द चाल्डियन भाषा के हैं। ऋग्वेद के 'सचा मना हिरण्यया' में मना बेबीलोनियन शब्द है। अंग्रेजी के पाथ शब्द से वेद का 'पन्था' शब्द निकला है। कुछ पाश्चात्यों ने वैदिक शब्दों के अर्थ का अनर्थ कर डाला है और बहुत-सी वृथा कल्पना-जल्पनाएँ रच डाली हैं। सबके लिखने का यहाँ न तो स्थान ही है न आवश्यकता ही। जिन्हें आर्यधर्म और हिन्दु-संस्कृति में केवल छिद्र ही ढूँढने हैं, वे तो ऐसी ऊटपटाङ्ग बातें करेंगे ही। वस्तुतः वैदिक साहित्य को हीन बताने के लिए ही कितने ही विदेशी वैदिक विद्वान् वैदिक साहित्य के पीछे पड़े भी। मैक्डानल ने अपने Vedic Mythology के प्रथम पृष्ठ में ही आर्यों को असभ्य और बरबर बना डाला है। "जैसी समझ वैसी करनी" ठीक ही है। और

पक्षपात का चश्मा पहननेवालों से निष्पक्ष अर्थ करने तथा यथार्थ विषय उपन्यस्त करने की आशा ही कैसे की जा सकती है।"—हिन्दी ऋ०, पं० रामगोविन्द त्रिवेदी भू०पृ० १०

जिस समय वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृति पर चारों ओर से भीषण कुठाराघात हो रहे थे, भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर अन्धकार की घनघोर घटाएँ छाई हुई थीं, उस समय उन अविद्या-अन्धकार की घटाओं को चीरते हुए, एक दिव्यालोक का प्रकाश बिखेरते हुए महर्षि दयानन्द भारतीय रङ्गमञ्च पर अवतीर्ण हुए। महर्षि दयानन्द ने वेद के गम्भीर अध्ययन, मनन और चिन्तन के पश्चात् जोरदार शब्दों में एक घोषणा की "वेदों की ओर लौटो" (**Back to the *Vedās***) उन्होंने सिंह-गर्जना करते हुए कहा—"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।"

महर्षि दयानन्द के भाष्य को पढ़कर उन्हें अपनी श्रद्धाञ्जलि प्रस्तुत करते हुए योगी अरविन्द घोष ने कहा था—

"In the matter of Vedic interpretation, I am convinced that whatever may be the final complete interpretation, Dayananda will be honoured as the first discoverer of the right clues. Amidst the choas and obscurity of old ignorance and age long misunderstanding, his was the eye of direct vision that pierced to the truth and fastened on to that which was essential. He has found the keys of the doors that time had closed and rent asunder the seals of the imprisoned fountains."

—Dayananda the man P. 12

वैदिक व्याख्या के विषय में मेरा यह विश्वास है कि वेदों की सम्पूर्ण अन्तिम व्याख्या चाहे कोई भी हो, दयानन्द का उपयुक्त शैली के प्रथम आविष्कारक के रूप में सदा

सम्मान किया जाएगा। पुराने अज्ञान और पुराने युग की मिथ्याज्ञान की अव्यवस्था और भ्रम के मध्य में यह उसी की दिव्य दृष्टि थी, जिसने सत्य का अन्वेषण कर उसे वास्तविकता के साथ बाँध दिया। जिन वेदों के द्वार को समय ने बन्द कर रक्खा था उनकी चाबियों को उसने पा लिया और बन्द पड़े हुए स्रोत की मुहरों को तोड़कर फेंक दिया।

वेद की प्रशंसा करते हुए स्वामी विवेकानन्दजी लिखते हैं–

"वेदों के सम्बन्ध में हिन्दुओं की यह धारणा है कि वे प्राचीन काल में किसी व्यक्तिविशेष की रचना अथवा ग्रन्थमात्र नहीं हैं। वे उसे ईश्वर की अनन्त ज्ञानराशि मानते हैं, जो किसी समय व्यक्त और किसी समय अव्यक्त रहती है। टीकाकार सायणाचार्य ने एक स्थान पर लिखा है, **यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् निर्ममे**–जिसने वेदज्ञान के प्रभाव से सारे जगत् की सृष्टि की है। वेद के रचयिता को कभी किसी ने नहीं देखा। इसलिए इसकी कल्पना करना भी असम्भव है। ऋषि लोग उन मन्त्रों अथवा शाश्वत नियमों के मात्र अन्वेषक थे। उन्होंने आदिकाल से स्थित ज्ञानराशि वेदों का साक्षात्कार किया था। ये वेद ही हमारे एकमात्र प्रमाण हैं और इनपर सबका अधिकार है–

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याᳬं शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।[१]

क्या तुम हमें वेद में ऐसा कोई प्रमाण दिखला सकते हो, जिससे यह सिद्ध हो जाए कि वेद में सबका अधिकार

---

१. यजुः० २६.२

नहीं है? पुराणों में अवश्य लिखा है कि वेद की अमुक शाखा में अमुक जाति का अधिकार है या अमुक अंश सत्ययुग के लिए और अमुक अंश कलियुग के लिए है, किन्तु ध्यान रखो, वेद में इस प्रकार का कोई ज़िक्र नहीं है, ऐसा केवल पुराणों में ही है। क्या नौकर कभी अपने मालिक को आज्ञा दे सकता है? स्मृति, पुराण, तन्त्र—ये सब वहीं तक ग्राह्य हैं, जहाँ तक वेद का अनुमोदन करते हैं। ऐसा न होने पर उन्हें अविश्वसनीय मानकर त्याग देना चाहिए, किन्तु आजकल हम लोगों ने पुराणों को वेद की अपेक्षा श्रेष्ठ समझ रक्खा है। मैं वह दिन शीघ्र देखना चाहता हूँ.... जब बच्चे, बूढ़े और स्त्रियाँ वेद-अर्चना का शुभारम्भ करेंगे।

वेदों के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के सिद्धान्तों में मेरा विश्वास नहीं है। आज वेदों का समय वह कुछ निश्चित करते हैं और कल उसे बदलकर फिर एक हज़ार वर्ष पीछे घसीट ले-जाते हैं। पुराणों के विषय में हम ऊपर कह आये हैं कि वे वहीं तक ग्राह्य हैं जहाँ तक वेदों का समर्थन करते हैं। पुराणों में ऐसी अनेक बातें हैं जिनका वेदों के साथ मेल नहीं खाता। उदाहरण के लिए पुराणों में लिखा है कि कोई व्यक्ति दस हज़ार वर्ष तक और कोई दूसरे बीस हज़ार वर्ष तक जीवित रहे, किन्तु वेदों में लिखा है—शतायुर्वै पुरुषः। इनमें से हमारे लिए कौन-सा मत स्वीकार्य है? निश्चय ही वेद।—विवेकानन्द साहित्य भाग ५, पृ० ३४४-३४६

महर्षि दयानन्द के सिंहनाद का प्रभाव मैक्समूलर पर भी पड़ा। वेद के सम्बन्ध में उसके मन्तव्य और धारणाएँ परिवर्तित हुईं। फलस्वरूप वेद की प्रशंसा करते हुए उसने लिखा—

Whatever the *Vedās* may be called they are to us

unique and priceless guides in opening before over eyes tombs of thought richer in relics than the royal tombs of Egypt and more ancient and primitive in thought than the oldest hymns of Babylonian and Accadian poets. —*Six Systems of Indian Philosophy P. 34*

वेद चाहे जो कुछ भी हों वे हमारे लिए अद्वितीय और बहुमूल्य मार्गदर्शक हैं, क्योंकि वे हमारे समक्ष विचारों की ऐसी राशि प्रस्तुत करते हैं जो मिस्र के राजकीय स्मारक-चिह्नों से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। वेद बेबीलोनियन और अकेडियन कवियों की प्राचीनतम कविताओं से बहुत प्राचीन हैं।

एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा—

The *Rigveda* is the most ancient book of the *Aryan*...... the sacred hymns of the *Brāhmans* stand unparalled in the literature of the whole world and their preservation might be called miraculous.

—*Pref. to Vol. IV of Rigveda Samhita P. LXXVIII*

ऋग्वेद आर्यजगत् की प्राचीनतम पुस्तक है। ब्राह्मणग्रन्थों की ऋचाएँ संसार के साहित्य में अपूर्व हैं तथा उनके संरक्षण की विधि को अद्भुत कहा जा सकता है।

इतना ही नहीं उन्होंने वेद को ईश्वरीयज्ञान भी स्वीकार किया। उन्होंने लिखा—

If there is a God who has created heaven and earth, it will be unjust on his part if he deprives millions of souls, born before Moses, of his divine knowledge. Reason and comparative study of religions declare that God gives his divnie knowledge to mankind from his first appearance on earth. —*Science of Religion*

द्युलोक और पृथिवीलोक का निर्माता यदि कोई ईश्वर है तो यह उसके लिए अन्यायपूर्ण बात होगी यदि वह मूसा से पूर्व उत्पन्न लोगों को अपने दिव्यज्ञान से वञ्चित रखता है।

तर्क और धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि प्रभु मनुष्य के पृथिवी पर प्रादुर्भाव के समय ही उसे अपना दिव्यज्ञान प्रदान करता है।

वेद संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ है, अतः वह निश्चय ही ईश्वरीयज्ञान है। ऋग्वेद की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा–

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावदृग्वेदमहिमा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

जब तक पृथिवी पर नदियाँ और पर्वत रहेंगे तब तक संसार के मनुष्यों में ऋग्वेद की महिमा का प्रचार होगा।

वैदिक प्रश्नोत्तरी

वेद ज्ञान के कोष और सदाचार-सम्बन्धी शिक्षाओं के भण्डार हैं। वेद सभी ज्ञान और विज्ञानों की खान हैं। जहाँ वेद में विमान आदि वैज्ञानिक आविष्कारों का वर्णन है, एक्सरे तथा विविध प्रकार की आयुर्वैदिक ओषधियों का वर्णन है, अङ्कगणित और बीजगणित के फार्मूले हैं, वहाँ वेद में सभी प्रकार की लेखन-शैलियों का भी वर्णन है। वेद में गद्य और पद्य शैली तो है ही साथ ही प्रार्थनात्मक, उपदेशात्मक, व्यङ्गात्मक और प्रश्नोत्तर-शैलियाँ भी हैं।

शिक्षा-शास्त्रियों की ऐसी मान्यता है कि-प्रश्नोत्तर विषय सरलता एवं सुगमता से समझ में आ जाता है। वेद के अवलोकन से हमें ज्ञात होगा कि वेद में इस प्रश्नोत्तर-शैली को अनेक स्थानों पर अपनाया गया है। यजुर्वेद के २३वें अध्याय में १८ मन्त्रों में बहुत ही सुन्दर प्रश्नोत्तरों का निरूपण हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक में हम उन्हीं प्रश्नोत्तरों की विशद व्याख्या पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करेंगे।

प्रायः प्रश्न संक्षिप्त होता है और उसका उत्तर बहुत बड़ा होता है। उदाहरण के रूप में यदि यह पूछा जाए कि "अर्थशास्त्र क्या है?" तो इस प्रश्न का संक्षिप्त-से-संक्षिप्त उत्तर यह होगा-"अर्थशास्त्र वह विद्या है जो मनुष्य के सामाजिक जीवन का अध्ययन करती है।" प्रश्न छोटा है तो उत्तर बहुत बड़ा और वह भी अपूर्ण। वस्तुतः इस प्रश्न के पूर्ण उत्तर के लिए तो कई पृष्ठों की आवश्यकता है।

इस वैदिक-प्रश्नोत्तरी की विशेषता यह है कि जितना बड़ा प्रश्न है, प्रायः उतना ही बड़ा उत्तर है और वह उत्तर

पूर्ण है। उदाहरण के रूप में एक प्रश्न है–'कः स्वित् एकाकी चरति।' अकेला कौन चलता है? वेद उत्तर देता है 'सूर्य एकाकी चरति'–सूर्य अकेला विचरता है। प्रश्नोत्तर का इतना सुन्दर, इतना वैज्ञानिक एवं गम्भीर क्रम शायद ही कहीं देखने को मिले।

महर्षि वेदव्यास ने इसी प्रश्नोत्तरी के आधार पर महाभारत के वनपर्व में यक्ष–युधिष्ठिर–संवाद की रचना की है। व्यासजी ने यह रचना इस वैदिक प्रश्नोत्तरी के आधार पर की है, यह बात इसी से स्पष्ट है कि उन्होंने इस प्रश्नोत्तरी के दो मन्त्रों को थोड़ा–सा बदलकर इस संवाद में रख दिया है। व्यासजी की यह रचना अद्‌भुत एवं अनुपम है। मेरी अपनी तो ऐसी मान्यता है कि यक्ष–युधिष्ठिर–संवाद महाभारत का सबसे उत्तम प्रसङ्ग है। यक्ष ने जो प्रश्न पूछे हैं वे बहुत ही सुन्दर हैं। महाराज युधिष्ठिर ने उनके जो उत्तर दिये हैं वे भी बहुत मनोरम हैं, परन्तु प्रश्न छोटे हैं और उत्तर बड़े। यहाँ हम केवल एक प्रश्न और उसका उत्तर प्रस्तुत करते हैं–

यक्ष ने पूछा–

को मोदते किमाश्चर्यं कः पन्था का च वार्तिका।
ममैतांश्चतुरः प्रश्नान् कथयित्वा जलं पिब॥

सुखी कौन है? आश्चर्य क्या है? मार्ग क्या है? और वार्त्ता क्या है? मेरे इन चार प्रश्नों का उत्तर देकर जल पियो।

युधिष्ठिरजी बोले–

पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वगृहे।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते॥

हे जलचर यक्ष! जो मनुष्य किसी का ऋणी नहीं है और जो परदेश में नहीं है, वह चाहे अपने घर में पाँच–छह दिन

के पश्चात् साग-पात पकाकर खाता हो, तो भी वह सुखी है।

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

संसार में प्रतिदिन प्राणी यमलोक में जा रहे हैं, परन्तु जो बचे हुए हैं, वे सदा जीते रहने की इच्छा करते हैं, इससे बढ़कर आश्चर्य क्या होगा?

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना, नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

तर्क की कहीं स्थिति नहीं है, मनुष्य की श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा कोई एक ऋषि नहीं है, जिसके मत को प्रामाणिक माना जाए तथा धर्म का तत्त्व गुहा में निहित है, अर्थात् अत्यन्त गूढ़ है, अतः महापुरुष जिस मार्ग से गमन करते हैं, वही मार्ग है।

अस्मिन् महामोहमये कटाहे, सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन, भूतानि कालः पचतीति वार्ता॥

इस महामोहरूपी कढ़ाहे में काल समस्त प्राणियों को मास और ऋतुरूपी कड़छी से उलट-पलटकर रात-दिनरूप ईंधन के द्वारा राँध रहा है, यही वार्ता है।

—महा० वनपर्व० ३१३.११४-११८

कितने सुन्दर एवं ज्ञानवर्धक प्रश्नोत्तर हैं, परन्तु प्रश्न तो एक श्लोक के पूर्वार्द्ध में हैं और उत्तर चार श्लोकों में। हाँ अनेक स्थानों पर प्रश्नोत्तर समान भी हैं, जैसे—

यक्ष ने पूछा—

किंस्विद् गुरुतरं भूमेः किंस्विदुच्चतरं च खात्।
किंस्विच्छीघ्रतरं वायोः किंस्विद् बहुतरं तृणात्॥

पृथिवी से भारी क्या है? आकाश से भी ऊँचा क्या है?

वायु से भी तेज चलनेवाला क्या है? और तिनकों से भी अधिक क्या है?

युधिष्ठिरजी बोले–

माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तथा।
मनः शीघ्रतरं वाताच्चिन्ता बहुतरी तृणात्॥

माता का गौरव पृथिवी से भी अधिक है? पिता आकाश से भी ऊँचा है। मन वायु से भी तेज गतिवाला है और चिन्ता तिनकों से भी अधिक, असंख्य एवं अनन्त है।

–महा० वनपर्व ३१३.५९,६०

इस प्रकार महाभारत में दो शैलियाँ हैं–

१. प्रश्न छोटा है और उत्तर बहुत विस्तृत। २. जितना प्रश्न उतना ही उत्तर।

वेद की अपनी विशेषता है। वेद में ईश्वर के सम्बन्ध में कहा है–'कविं कवीनाम्'[१] वह प्रभु कवियों का कवि है। उसका काव्य भी अद्भुत है। इस वैदिक प्रश्नोत्तरी की यह विशेषता है कि जितने शब्दों में प्रश्न है उतने ही शब्दों में उत्तर है। यह है वेद का वेदत्व।

श्री शंकराचार्य ने भी एक प्रश्नोत्तरी का प्रणयन किया। शंकराचार्य का पाण्डित्य अगाध था। उनकी लेखनशैली सुन्दर है। प्रसाद-गुण सम्पन्न कविता में उन्होंने अपने विचारों को प्रकट किया है। इस प्रश्नोत्तरी में तीन प्रकार के प्रश्नोत्तर हैं–१. प्रश्न बहुत बड़ा है और उत्तर बहुत छोटा २. जितना बड़ा प्रश्न उतना ही बड़ा उत्तर और ३. प्रश्न छोटा, परन्तु उत्तर बड़ा। यहाँ एक-दो उदाहरण प्रस्तुत हैं–

अपारसंसारसमुद्रमध्ये, सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति।
गुरो कृपालो कृपया वदैतद्विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका॥ १॥

---

१. ऋ० २.२३.१

प्रश्न—हे दयामय गुरुदेव! कृपा करके मुझे यह बताइए कि अपार संसाररूपी समुद्र में मुझ डूबते हुए का आश्रय क्या है?

उत्तर—समस्त ब्रह्माण्डों के नायक प्रभु की चरणकमलरूपी नौका।

द्वारं किमेकं नरकस्य नारी॥ ३॥

प्रश्न—नरक का द्वार क्या है?

उत्तर—नारी।

श्री शंकराचार्य ने अपनी इस छोटी-सी प्रश्नोत्तरी में नारियों की भरपेट निन्दा की है। यहाँ हम उनके नारी निन्दा विषयक कुछ अन्य स्थल भी देते हैं—

सम्मोहयत्येव सुरेव का स्त्री॥ ६॥

प्रश्न—मदिरा की भाँति कौन-सी वस्तु मोहित कर देती है?

उत्तर—नारी।

का शृङ्खला प्राणभृतां हि नारी॥ १५॥

प्रश्न—प्राणियों के लिए सांकल क्या है?

उत्तर—नारी।

विश्वासपात्रं न किमस्ति नारी॥ १९॥

प्रश्न—विश्वास के योग्य कौन नहीं है?

उत्तर—नारी।

किं तद्विषं भाति सुधोपमं स्त्री॥ २९॥

प्रश्न—वह कौन-सा विष है जो अमृत-सा जान पड़ता है?

उत्तर—नारी।

इस प्रकार के और भी प्रसङ्ग हैं। हमें आश्चर्य है कि श्री शंकराचार्य ने पानी पी-पीकर स्त्रियों को क्यों कोसा है? हे आचार्य महोदय! स्त्रियों ने कभी आपके साथ कोई बुराई

नहीं की, किसी ने आपको अपमानित नहीं किया फिर आपने मातृशक्ति के प्रति इतना विषवमन क्यों किया? जिस नारी ने आपका पालन और पोषण किया उसी नारीजाति का ऐसा अनादर एवं अपमान! आश्चर्य! महान् आश्चर्य!!

योगेश्वर श्रीकृष्ण से भी यह प्रश्न पूछा गया था कि नरक का द्वार क्या है तो उन्होंने कहा था—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
—गीता १६.२१

हे अर्जुन! काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकार के नरक के द्वार आत्मा का नाश करनेवाले हैं, अधोगति में ले-जानेवाले हैं, इसलिए इन तीनों को त्याग देना चाहिए। कितना सुन्दर उत्तर है!

नारी नरक का द्वार नहीं है, नारी हेय और निन्दनीय नहीं है। हाँ, जो नारी की निन्दा करते हैं वे अवश्य शोचनीय हैं। एक बात देवियों से भी कहनी है कि वे इस प्रकार की पुस्तकों को कभी न पढ़ें जिनमें उनके गौरव और मानमर्यादा पर प्रहार किया गया हो।

श्रीशंकराचार्य की दूसरी शैली—जितना बड़ा प्रश्न उतना ही बड़ा उत्तर।

उदाहरण देखिए—

को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः,
श्रीमांश्च को यस्य समस्ततोषः।
जीवन्मृतः कस्तु निरुद्यमो यः,
किं वामृतं स्यात्सुखदा निराशा॥५॥

प्रश्न—दरिद्र कौन है?

उत्तर–जिसकी तृष्णा विशाल है।

प्रश्न–धनवान् कौन है?

उत्तर–जिसे हर प्रकार से सन्तोष है।

प्रश्न–जीते-जी मरा हुआ कौन है?

उत्तर–जो पुरुषार्थहीन है।

प्रश्न–अमृत क्या हो सकता है?

उत्तर–सुख देनेवाली निराशा अर्थात् आशा से रहित होना।

एक और प्रश्नोत्तर देखिए–

वासो न सङ्गः सह कैर्विधेयो,
मूर्खैश्च नीचैश्च खलैश्च पापैः।
मुमुक्षूणां किं त्वरितं विधेयं,
सत्सङ्गतिर्निर्ममतेशभक्तिः ॥१७॥

प्रश्न–किन-किनके साथ निवास और सङ्ग नहीं करना चाहिए?

उत्तर–मूर्ख, नीच, दुष्ट और पापियों के साथ।

प्रश्न–मोक्ष चाहनेवालों को तुरन्त क्या करना चाहिए?

उत्तर–सत्सङ्ग, ममता का त्याग और ईश्वर की भक्ति।

प्रश्नोत्तरी की तीसरी शैली है–प्रश्न छोटा और उत्तर बड़ा। जैसे–

मूकोऽस्ति को वा बधिरश्च को वा वक्तुं न युक्तं
समये समर्थः तथ्यं सुपथ्यं न शृणोति वाक्यम् ॥ १९॥

प्रथम चरण में दो प्रश्न हैं–

१. गूँगा कौन है?

२. बहरा कौन है?

अगले दो चरणों में क्रमशः उनके उत्तर हैं–

१. जो समय पर उचित वचन कहने में समर्थ नहीं हैं।

२. जो यथार्थ और हितकर वचन नहीं सुनता।

तुलनात्मक अध्ययन के रूप में यहाँ हमने महाभारत और शङ्कराचार्य की प्रश्नोत्तरी के कुछ प्रसङ्ग प्रस्तुत किये हैं। हमारा साहित्यक ज्ञान बहुत कम है फिर भी हम दावे के साथ यह कह सकते हैं कि वेद के प्रश्नोत्तरों में जो सौन्दर्य, जो भाव-गाम्भीर्य, जो स्वारस्य है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वेद के एक-एक शब्द में महान् रहस्य छिपे हुए हैं। एक-एक शब्द अनेक अर्थों का बोधक होने के कारण एक-एक प्रश्नोत्तर के कई-कई अर्थ बनते हैं। वेद के एक शब्द को भी ठीक प्रकार से जान लेने पर कल्याण हो जाता है, तभी तो महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा था–

एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति।

अर्थात् वेद में विशेष प्रयोजन से प्रयुक्त एक शब्द का भी सम्यक् ज्ञान हो जाए तो वह इस लोक और परलोक में कामधेनु=सम्पूर्ण इच्छाओं को पूर्ण करनेवाला होता है।

पाठकगण! लौकिक और पारलौकिक उन्नति के लिए वेद का स्वाध्याय कीजिए। वेद को अपने जीवन का आदर्श बनाकर उसे अपने जीवन में उतारिए। प्रतिदिन वेद पढ़ने का व्रत लीजिए। वेद के स्वाध्याय से आपके जीवन में ज्योति का प्रकाश होगा। निराशा और अविद्या-अन्धकार के मेघ छिन्न-भिन्न होकर आशा और उत्साह का आपके जीवनों में सञ्चार होगा। आप निरन्तर उन्नति की ओर अग्रसर होंगे।

आगे के पृष्ठों में आप 'वैदिक प्रश्नोत्तरी' की व्याख्या का अध्ययन कीजिए। आपको वेद की गौरव-गरिमा का पता लगेगा और आपके जीवन का मार्ग प्रशस्त बनेगा।

[इत्यलम्]

कः स्विदेकाकी चरति कऽउ स्विज्जायते पुनः।
किंस्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत्॥
सूर्यऽएकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥

—यजुः० २३.४५-४६

प्रश्न— १. (कः स्वित् एकाकी चरति) कौन अकेला विचरता है?

२. (कः स्वित् जायते पुनः) कौन बार-बार उत्पन्न होता है?

३. (किं स्वित् हिमस्य भेषजम्) हिम की औषध क्या है?

४. (किं उ महत् आवपनम्) बीज बोने और काटने का बहुत बड़ा स्थान कौन-सा है?

उत्तर— १. (सूर्यः एकाकी चरति) सूर्य अकेला विचरता है।

२. (चन्द्रमा जायते पुनः) चन्द्रमा बार-बार उत्पन्न होता है।

३. (अग्निः हिमस्य भेषजम्) अग्नि हिम की औषध है।

४. (भूमिः महत् आवपनम्) भूमि बीज बोने और काटने का बहुत बड़ा स्थान है।

प्रथम मन्त्र में चार प्रश्न हैं और दूसरे में उनके उत्तर। हम प्रत्येक पर यहाँ विचार करेंगे।

सूर्य एकाकी चरतिः—पहला प्रश्न है—अकेला कौन विचरता है? वेद उत्तर देता है—सूर्य अकेला विचरता है।

वैदिक साहित्य में सूर्य शब्द के अनेक अर्थ हैं। उन अर्थों में प्रमुख तीन अर्थ हैं—सूर्य, आत्मा और परमात्मा।

जिस समय प्रातःकाल का सूर्य अपनी किरणों को बिखेरता हुआ आकाश में उदय होता है, उस समय उसके प्रबल प्रकाश में अन्य ग्रह और नक्षत्र, चन्द्रमा और तारे सभी लुप्त हो जाते हैं। यद्यपि वे आकाश में विद्यमान रहते है, परन्तु दिखलाई नहीं देते, अतः आकाश में दिखलाई देनेवाले सूर्य के सम्बन्ध में यह बात सर्वथा सत्य है कि सूर्य अकेला विचरता है।

महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्रांश का अर्थ किया है—'सूर्यलोक अकेला स्वपरिधि में घूमता है।' पृथिवी सूर्य के चारों .ओर चक्कर लगाती है। चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर घूमता है, परन्तु सूर्य केवल अपनी कीली पर, अपनी परिधि में घूमता है।

सूर्य का दूसरा अर्थ है आत्मा। एकाकी से तात्पर्य है निस्सङ्ग। जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता हो, इन्द्रियों को अपने वश में रक्खे और उन्हें अपनी आज्ञानुसार चलाए, उसका नाम सूर्य है। जब तक आत्मा इन्द्रियों को पूर्णरूपेण वश में नहीं कर लेता तब तक वह इन्द्रियों के विषयों में फँसा रहता है। इन्द्रियासक्त मनुष्य को अपने बुरे और भले का ज्ञान भी नहीं होता। लीजिए, इस विषय में एक मनोरम दृष्टान्त प्रस्तुत है—

एक जमींदार को गाने सुनने का बहुत शौक था। जो कोई उसके पास जाता अथवा जिसके सम्बन्ध में वह सुनता कि इस व्यक्ति को गाना आता है, उसे ही अपने पास बुलाकर गाना गाने का आदेश देता। एकबार एक चमार को बुलाकर उसे आज्ञा दी—'कोई अच्छा-सा गाना सुनाओ।'

चमार बोला--'अरे सरकार! मैं गाना क्या जानूँ कोई जूते गठवाने हों तो ठीक कर दूँ।' जमींदार ने तो पी हुई थी, वह इतनी जल्दी माननेवाला कब था, बोला–अबे! गाएगा या पिटेगा।" चमार ने देखा कि बिना गाये पिण्ड नहीं छुटेगा तो उसने गाना आरम्भ किया–

मोय मारि–मारि ससुर गवावति है।
मोय मारि–मारि ससुर गवावति है॥

चमार अभी इतना ही कह पाया था कि उसकी स्त्री भी उधर आ निकली। जब उसने सुना कि पति जमींदार को गाली दे रहा है तो वह भी गाकर पति को समझाने लगी–

मनमाँ है चाँद पिटावन की।
मनमाँ है चाँद पिटावन की॥

यह सुनकर चमार अपनी पत्नी को डाँटते हुए बोला–

वह ससुरा तो समझत नाहीं तू ससुरी समझावति है।
मोय मारि–मारि ससुर गवावति है॥

जमींदार गाना सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ और दोनों को पुरस्कार प्रदान कर विदा किया।

एक और कथा सुनिए। एक था राजकुमार। एक दिन वह आखेट से लौट रहा था। सहसा उसकी दृष्टि एक भव्य–भवन पर पड़ी जहाँ एक सोलह वर्ष की अत्यन्त सुन्दर कन्या झरोखे में बैठी हुई थी। उसके अनुपम सौन्दर्य को देखकर राजकुमार उसपर मोहित हो गया और उससे विवाह करने की युक्तियाँ सोचने लगा। यह कन्या उसी राज्य के महामन्त्री की थी। जब राजा को अपने पुत्र की इस इच्छा का पता लगा तो वह बहुत चिन्तित हुआ। जब मन्त्री को सारी घटना का पता लगा तो वह अपने घर गया और अपनी

कन्या से सम्पूर्ण वृत्तान्त कहा। कन्या प्रतिदिन योगाभ्यास किया करती थी और आजीवन ब्रह्मचारिणी रहना चाहती थी। उसने विषयों में दोषदर्शन कर उनकी वास्तविकता समझ ली थी। राजकुमार को शिक्षा देने की अपने मन-ही-मन में योजना बना उसने कहा-"पिताजी! इतनी-सी बात के लिए आप दुःखी क्यों हैं? आप राजकुमार को यह सन्देश भेज दें कि परसों चार बजे मुझे मिलें, मैं उनका स्वागत करने के लिए तैयार हूँ।"

इधर तो राजकुमार यह सूचना प्राप्त कर परम-प्रसन्न हुए उधर मन्त्री-कन्या ने चार पीतल की बाल्टियाँ तथा उनपर ढकने के लिए रेशमी रुमाल और कुछ जमालगोटा मँगवा लिया। कन्या ने जमालगोटे की फँकी लेकर जुलाब ले लिया। अब क्या था दस्त-पर-दस्त आने लगे। कन्या हर बार उन पीतल की बाल्टियों में दस्त करती और उन्हें रेशमी रुमालों से ढक दिया जाता।

किसी हट्टे-कट्टे पहलवान को भी दस्त लग जाएँ तो वह भी एकदिन में निढाल हो जाता है, फिर वह कन्या तो बहुत ही कोमलाङ्गी थी। तीन दिन में ही कन्या अस्थिपञ्जरों का ढाँचामात्र रह गई। सौन्दर्य विदा हो गया। गाल पिचक गये। कमरे से बदबू आती थी। चारपाई पर मक्खियाँ भिनभिनाती थीं।

निर्धारित समय पर सजधजकर बड़ी उमङ्ग के साथ राजकुमार कन्या के महल में आया। कमरे में बदबू आती थी। राजकुमार नाक पर रुमाल लगाकर अन्दर घुसा। राजकुमारी ने क्षीण कण्ठ से कहा-आइए, राजकुमार इस सोफे पर बैठिए। कहिए मेरे लिए क्या आज्ञा है?"

'आप' राजकुमार आश्चर्य से चकित होकर बोला-"परन्तु आपका उस दिन का वह अनुपम सौन्दर्य एवं लावण्य?"

क्षीण कण्ठ से बाला बोली, खोज रहे क्या राजकुमार।
जिस सौन्दर्य-सुधा पर रीझे, भरा बाल्टियों में तैयार॥

राजकुमार उत्सुकतापूर्वक आगे बढ़ा। उसने कपड़ा उठाया तो वहाँ ठहरना कठिन हो गया। उन बाल्टियों को रुमालों से ढक राजकुमार बोला–'मुझे क्षमा करो बहिन! भविष्य में मैं पर-स्त्री को माता, बहिन और पुत्री की भावना से देखूँगा।"

जब आत्मा विषयों में दोषदर्शन कर लेता है, जब विषयों से होनेवाले परिणामों को जानकर उन्हें छोड़ देता है, तब वह अकेला होता है। इन्द्रियों और शरीर के रहते हुए भी निस्सङ्ग होता है। जैसे सूर्योदय के समय भी आकाश में सारे ग्रह-उपग्रह आदि होते हैं, परन्तु सूर्य के प्रखर प्रकाश के समक्ष उनका प्रकाश लुप्त-सा रहता है और सूर्य अकेला होता है, ठीक इसी प्रकार आत्मतेज से तेजस्वी आत्मा के राज्य में इन्द्रिय आदि कोई भी अपना प्रभाव नहीं दिखा सकते। इसी भाव से मन्त्र में कहा गया है **'सूर्य एकाकी चरति'** निस्सङ्ग आत्मा अकेला विचरता है।

जब तक मनुष्य अकेला नहीं होता तब तक उसे न पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है और न ही वह किसी विषय पर गम्भीर विचार और विवेचन कर सकता है। शान्ति के अभिलाषी घर-बार को छोड़कर जङ्गल में आसन जमाते हैं। जब मनुष्य को गम्भीर चिन्तन करना होता है तो वह भीड़-भाड़ से दूर हटकर एकान्त-शान्त स्थान का आश्रय लेता है। एकान्त-शान्त स्थान में चिन्तन और मनन करने से मनुष्य ज्ञानी और मेधावी बनता है। वेद में कहा है--

उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत॥ —यजुः० २६.१५

पर्वतों की कन्दराओं में और नदियों के सङ्गम आदि

स्थानों पर रहकर ध्यान और अध्ययन करने से मनुष्य विशेष बुद्धिमान् बनता है।

इसी आदेश के अनुसार प्राचीन समय में गुरुकुल ग्रामों से दूर नदियों के सङ्गम और पर्वतीय प्रदेशों में हुआ करते थे।

सूर्य शब्द का अर्थ परमात्मा भी होता है। वेद में कहा है–

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। –यजुः० ७.४२

जड़ और चेतन इस समस्त संसार के आत्मा=गतिप्रदाता, जीवनदाता का नाम सूर्य है।

परमात्मा निस्सङ्ग है, अकेला है यह तो ध्रुव सत्य है। जहाँ मोह और ममता हो, लोभ और लालच हो वहीं सङ्ग की भावना होती है। परमेश्वर इन सबसे पृथक् है। प्रभु समस्त प्रकृति और उसके कार्यों में तथा सकल जीवों में ओत-प्रोत होता हुआ भी अकेला है, सङ्गदोष से रहित है। इसी बात को कठोपनिषद् में भौतिक सूर्य का दृष्टान्त देकर यूँ स्पष्ट किया गया है–

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।।

जैसे सूर्य सारे संसार का नेत्र है, पदार्थों का दर्शन करानेवाला है, किन्तु बाहर के आँख-सम्बन्धी दोषों से उसमें विकार नहीं आता (किसी की आँखें दुखने से सूर्य पर कोई प्रभाव नहीं होता, किसी के काणे या अन्धे होने से सूर्य काणा अथवा अन्धा नहीं होता) इसी प्रकार सब पदार्थों का आत्मा, अद्वितीय एवं एकरस परमात्मा संसार के दुःखों से दुखित नहीं होता। परमात्मा सबके अन्दर भी है और बाहर भी, अतः वह निस्सङ्ग है। जैसे सूर्य निर्लेप है, उसी प्रकार

परमात्मा भी निर्लेप है। पाप और परिवर्तन उसे स्पर्श नहीं कर सकते।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी इस बात को बहुत ही सुन्दर रीति से समझाया गया है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

—श्वेता० ६.१२

एक परमात्मा ही सब पदार्थों में छिपा हुआ है। वह सर्वव्यापक है और सब प्राणियों का अन्तरात्मा है। वही कर्मफल प्रदाता है। सब पदार्थों का आश्रय है। वही सम्पूर्ण संसार का साक्षी है, वह ज्ञानस्वरूप, अकेला और निर्गुण—सत्व, रज और तमोगुण से रहित है।

अब हम दूसरे प्रश्नोत्तर पर आते हैं। बार-बार कौन उत्पन्न होता है? वेद कहता है '**चन्द्रमा जायते पुनः**' चन्द्रमा बार-बार उत्पन्न होता है। यदि हम आकाश पर दृष्टि डालें तो प्रत्येक रात्रि में चन्द्रमा हमें नूतन रूप में दिखाई देता है। कृष्णपक्ष में यह घटता रहता है और शुक्लपक्ष में वृद्धि को प्राप्त होता जाता है। इसी भाव से कहा है चन्द्रमा बार-बार उत्पन्न होता है, परन्तु हमें तो आध्यात्मिक व्याख्या देखनी है।

चन्द्र शब्द 'चदि आह्लादे' धातु से सिद्ध होता है। चन्द्र और चन्द्रमा शब्द एकार्थवाची हैं। चन्द्र का अर्थ है आह्लाद, प्रसन्नता, मौज, आनन्द माननेवाला। जो मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में ही मग्न रहते हैं, उन्हें यहाँ 'चन्द्र' कहा गया है।

यह तो सर्वविदित है कि इन्द्रियों और उनके विषयों में सुख नहीं है। यदि उनमें सुख होता तो कोई भी मनुष्य कभी भी उनका त्याग न करता। यह तो प्रतिदिन के अनुभव की बात है कि विषयासक्त एवं विषयलोलुप लोग भी विषयों से

ऊब जाते हैं, उनमें सुख के स्थान पर दुःख अनुभव करने लगते हैं।

पाठक कह सकते हैं कि हमको विषयों में आनन्द आता है। ठीक है विषयों में सुख की प्रतीति होती है, परन्तु यह सुख तो कुत्ते को हड्डी में मिलनेवाले सुख के सदृश है। एक कुत्ता कहीं से हड्डी उठा लाता है और उसे चबाता है। हड्डी चबाते-चबाते कुत्ते के मसूड़ों से रक्त निकलने लगता है और वह समझता है कि मुझे हड्डी में से सुख प्राप्त हो रहा है।

वस्तुतः विषयों में जो सुख की प्रतीति होती है उसका कारण तो मन का सब ओर से हटकर उसमें लीन होना है। यदि मन का सहयोग न हो तो सुख की प्रतीति हो ही नहीं सकती। उदाहरण के रूप में एक मनुष्य फूलों की सेज पर सुख का अनुभव करता है, परन्तु रोगी होने पर वही पुष्प-शय्या दुःख का कारण बन जाती है। एक व्यक्ति को खीर, पूरी और हलवा स्वादिष्ट लगते हैं, परन्तु ज्वर की अवस्था में वे स्वादु और मधुर पदार्थ उसे कड़वे लगते हैं। जल जीवन है, परन्तु निमोनिया होने पर वही जल विष बन जाता है।

एक पदार्थ में सुख न मिलने पर मनुष्य दूसरे पदार्थ में सुख खोजता है, उसमें विरसता होने पर तीसरे पदार्थ में आनन्द ढूँढता है, इस प्रकार वह एक पदार्थ से दूसरे में चक्कर काटता रहता है।

कुछ लोगों ने तो खाने-पीने को ही अपने जीवन का आदर्श माना हुआ है। एक मथुरा के चौबे के घर भोजन का निमन्त्रण आया। चौबेजी अभी-अभी एक स्थान से भोजन करके ही लौटे थे। दूसरे निमन्त्रण को देख उसने अपने

दादाजी से पूछा–

ऊर्ध्वं गच्छन्ति डक्कारा अधोवायुर्न गच्छति।
निमन्त्रणमागतं द्वारे किं करोमि पितामह॥

डकार पर डकार आ रही हैं, अपानवायु भी नहीं निकल रही है और घर पर निमन्त्रण आया हुआ है, हे पितामह! मैं क्या करूँ?

पितामह ने कैसा सुन्दर उत्तर दिया–

परान्नं दुर्लभं लोके शरीराणि पुनः पुनः।
भोजनं कुरु दुर्बुद्धे मा शरीरे दयां कुरु॥

इस संसार में पराया अन्न मिलना कठिन है, शरीर का क्या है यह तो बार-बार मिलता रहता है, अतः दुर्बुद्धे! शरीर पर दया मत कर, भरपेट भोजन खा।

चारवाकों का तो यह सिद्धान्त है–

यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

जब तक जिये सुख से जिये, यदि घर में न हो तो ऋण लेकर घी पीये और आनन्द करे। ऋण देना नहीं पड़ता, क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर पुनर्जन्म नहीं होता।

इस प्रकार के व्यक्ति बार-बार जन्म लेते हैं।

यह मानव जन्म बहुत दुर्लभ है। श्रीशङ्कराचार्यजी कहते हैं–

दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

–विवेक चूडा० ३

मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व (मुक्त होने की इच्छा) और महापुरुषों का सङ्ग–ये तीनों दुर्लभ हैं और प्रभुकृपा होने पर ही प्राप्त होते हैं।

मुक्ति के द्वार मनुष्य-शरीर को पाकर भी जो लोग विषय और वासनाओं में फँसे रहते हैं, वे आवागमन के चक्र में फँस जाते हैं। जैसे चन्द्रमा घटता और बढ़ता रहता है इसी प्रकार वे भी उत्कृष्ट और निकृष्ट योनियों में घूमते रहते हैं।

चन्द्रमा में प्रकाश सूर्य से आता है। यदि प्रकाश आते समय कोई रुकावट आ जाए तो प्रकाश में अन्तर पड़ जाता है। चन्द्रमा में सूर्य से प्रकाश आते समय भूमि की छाया के कारण प्रकाश की मात्रा में वृद्धि और ह्रास होता है। जैसे चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश प्राप्त करता है इसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा से ज्ञान प्राप्त करता है। जीव के अल्पज्ञ और अज्ञानी होने के कारण परमात्मा से मिलनेवाले ज्ञान में त्रुटि हो जाती है, परिणामस्वरूप जीवात्मा पदार्थों के गुण-दोषों को ठीक नहीं समझ पाता, अतः उनमें फँसकर आवागमन के चक्र में पड़ जाता है।

विषयासक्त मनुष्य परलोक को भूल जाता है। विषयी मनुष्यों का आदर्श होता है—"खाओ, पिओ करो आनन्द, भाड़ में जाए परमानन्द।" ऐसे मनुष्यों की भीषण दुर्गति होती है। इस बात को आचार्य यम ने नचिकेता को सुन्दर रूप में समझाया है—

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

—कठो० २.६

अज्ञानी, आत्मा-अनात्मा के विवेक से शून्य, विषयभोगों में आसक्त, धन के मोह से मूढ़ पुरुष को सांपराय=आनी-जानी दुनिया का चक्र नहीं सूझता। यही लोक है, परलोक नहीं है, ऐसा माननेवाला बार-बार मृत्यु के मुख में पड़ता है।" 'चन्द्रमा जायते पुनः' की कैसी सुन्दर एवं अद्भुत व्याख्या है।

हे मानव! इस संसार के भोग समाप्त नहीं होते। भर्तृहरिजी कहते हैं–

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

–वैराग्यशतक १२

भोग, सांसारिक सुख के साधन नहीं भोगे गये अपितु हम स्वयं भोगे गये। तप नहीं तपा गया प्रत्युत हम ही तप्त हो गये। काल नहीं बीता, परन्तु हम हां बीत गये। तृष्णा जीर्ण नहीं हुई प्रत्युत हम ही जीर्ण हो गये।

किसी अन्य कवि ने बहुत सुन्दर कहा है–

जीर्यन्ते जीर्यतः केशाः दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
चक्षुःश्रोत्रे च जीर्येते तृष्णैका तरुणायते॥

–पञ्चतन्त्र ५.१६

वृद्ध होने पर केश जीर्ण हो जाते हैं, दाँत जीर्ण हो जाते हैं, नेत्र और कान भी जीर्ण हो जाते हैं, परन्तु तृष्णा निरन्तर तरुणी होती जाती है।

तृष्णा का कहीं अन्त नहीं है। यदि आनन्द की चाह है, मोक्ष- सुख की अभिलाषा है, आवागमन के चक्र से त्राण पाना है तो विषयों की आसक्ति छोड़ो।

अब तीसरे प्रश्नोत्तर को लीजिए। प्रश्न है हिम की औषध क्या है? वेद ने उत्तर दिया–'**अग्निर्हिमस्य भेषजम्।**' अग्नि हिम का औषध है। एक मनुष्य को भयङ्कर शीत लग रही है। अग्नि के पास बैठते ही उसकी शीत दूर हो जाती है। अन्धकार छा रहा हो, अग्नि प्रकाशित करो। मृतक का शरीर ठण्डा हो जाता है, हिम=जाड़ा मृत्यु का प्रतिनिधि है और अग्नि से जीवन चलता है, अतः वेद ने कहा अग्नि हिम

की औषध है।

आध्यात्मिक व्याख्या में अग्नि का अर्थ है ज्ञान और हिम का अर्थ है अज्ञान। ज्ञानी मनुष्य के विचार उदार होते हैं, उसके भाव विशाल होते हैं, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, योगेश्वर श्रीकृष्ण, महर्षि दयानन्द आदि महापुरुषों के जीवन में हमें इस सत्य के दर्शन होंगे। श्रीराम को वनवास दिया गया, सभी ने कैकेयी को धिक्कारा और फटकारा, परन्तु श्रीराम ने उसे कोई दोष न दिया। जब श्रीकृष्ण ने यादवों की पतित अवस्था देखी तो स्वयं सबका संहार करा दिया। महर्षि दयानन्द को लोग गालियाँ देते थे, उनपर ईंट और पत्थर फेंकते थे, परन्तु वे क्षमा कर देते थे।

ज्ञान की गर्मी से ज्ञानी के गुणों में विकास होता है। इसके विपरीत अज्ञानी के विचार संकुचित और सङ्कीर्ण होते हैं। अज्ञान के कारण उनमें सङ्कोच आ जाता है। अज्ञान की चिकित्सा ज्ञान है। ज्ञान की महिमा महान् है। संसार में ज्ञान के समान सुख देनेवाला और कोई पदार्थ नहीं है। विषय-तृष्णा और अहङ्कार का अभाव ज्ञान से ही होता है। ज्ञान को मनुष्य का तृतीय नेत्र कहा जाता है। गीता में कहा है—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।। —गीता० ४.३८

इस संसार में ज्ञान से बढ़कर और कोई भी वस्तु पवित्र करनेवाली नहीं है।

महर्षि मनु कहते हैं—

बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति। —मनु० ५.१०९

बुद्धि ज्ञान से ही पवित्र होती है।

योगवासिष्ठ में ज्ञान की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है—

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्माभ्यां जायते परमं पदम् ।।

जैसे पक्षी आकाश में दोनों पंखों से उड़ते हैं, ऐसे ही ज्ञान और कर्म दोनों के योग से परमपद=मोक्ष की प्राप्ति होती है।

महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के आठवें नियम में लिखा–

"अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।"

अविद्या–अन्धकार को नष्ट करने के लिए ज्ञान–प्रकाश की आवश्यकता है। वीतराग स्वामी सर्वदानन्दजी अपने व्याख्यानों में कहा करते थे कि जिस समय सूर्य का प्रकाश होता है, उस समय किसी दीपक आदि की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु जब सूर्यास्त हो जाता है उस समय प्रत्येक मनुष्य अपनी सामर्थ्य और सुविधानुसार कोई दीपक जलाता है तो कोई लालटेन, कोई गैस जलाता है तो कोई विद्युत् प्रकाश करता है। रात्रि के समय यदि कोई मनुष्य लोगों के घर जा–जाकर इन दीपक आदि उपकरणों को हटाने या बुझाने लगे तो उसे बुरा लगेगा। हाँ, सूर्य का प्रकाश होते ही लोग इन्हें स्वयं बुझा देंगे। वेदरूपी सूर्य के अस्त होने के कारण आज अनेक मत–मतान्तर और पाखण्ड पनप रहे हैं। इन मत–मतान्तरों और पाखण्डों को जड़मूल से समाप्त करने के लिए, अविद्या और अज्ञान को नष्ट करने के लिए वैदिक धर्म के प्रचार की महती आवश्यकता है। जैसे शीत की ओषधि अग्नि है, उसी प्रकार अज्ञान की चिकित्सा ज्ञान है।

ज्ञान की अद्भुत महिमा है। इसकी महिमा का जितना वर्णन किया जाए कम है, परन्तु वेद ने अपनी अनुपम शैली से बहुत थोड़े शब्दों में ज्ञान की महिमा का गान कर दिया।

अब चौथे प्रश्नोत्तर को लीजिए। बीज बोने का बहुत

बड़ा स्थान कौन-सा है?

वेद कहता है-"**भूमिरावपनं महत्।**" भूमि बीज बोने का बहुत बड़ा स्थान है।

तनिक भूमि के ऊपर दृष्टि डालिए, बीज बोने का कितना बड़ा स्थल है यह। मनुष्य को भोजन सामग्री भूमि से ही प्राप्त होती है। इस भूमि से जौ, गेहूँ, चावल, चना, मकई, ज्वार, बाजरा, आदि नाना प्रकार के अन्न, अनेक प्रकार की दालें, भाँति-भाँति के फल-फूल, साग-पात क्या कुछ उत्पन्न नहीं होता? सचमुच यह भूमि बीज बोने का बहुत बड़ा स्थान है।

इस मन्त्रांश में एक भाव यह भी ध्वनित होता है कि यह संसार ही कर्मभूमि है। यह संसार कुरुक्षेत्र है, कर्मस्थली है, संघर्ष का मैदान है।

परन्तु हमें तो आध्यात्मिक व्याख्या करनी है। भूमि का अर्थ ज़मीन है। अंग्रेजी में इसे Land कहते हैं। ग्रिफ़िथ ने भूमि का अर्थ Earth किया है। भूमि का 'ज़मीन', 'लैण्ड' और 'अर्थ' अनुवाद करने पर वेद का सौन्दर्य समाप्त हो जाता है। वैदिक शब्द तो यौगिक हैं '**भवति अस्मिन् इति भूमिः**'। जिसमें रहकर जीवात्मा अपनी सत्ता का प्रकाश करता है, उसका नाम भूमि है। इस निरुक्ति के अनुसार शरीर भूमि है। गीता में भी इस शरीर को क्षेत्र=खेत कहा गया है-

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदुः॥

-गीता० १३.१

हे अर्जुन! यह शरीर क्षेत्र है, ऐसा कहा जाता है और जो इसको जानता है तत्त्ववेत्ता ज्ञानी लोग उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

वेद कहता है, यह भूमि=यह मानवदेह आत्मा का बीज बोने और उसका फल काटने का, कर्म करने और फल भोगने का स्थान है। यह शरीर कर्मक्षेत्र है। मनुष्य जैसा कर्म करता है वैसा ही फल उसे प्राप्त होता है। वेद कहता है–

पक्तारं पक्वः पुनराविशाति। –अथर्व० १२.३.४८

पकानेवाले के पास पकाया हुआ पदार्थ आ जाता है। जो हाँडी में डाला है वही तो खाने को मिलेगा। जो कर्म किये हैं, उनका फल तो भोगना ही पड़ेगा। कर्मफल से मनुष्य बच नहीं सकता। उत्तम कर्म करने से उच्च योनि की प्राप्ति होती है और बुरे कर्म करने से नीच योनि मिलती है। जैसा कोई कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। किसी ने क्या सुन्दर कहा है–

दुःख दोगे दुःख मिलेगा सुख दोगे सुख मिलेगा।
मारोगे तुम किसी को फिर ग़म पड़ेगा सहना ॥

और सुनिए–

किसी का कौल[1] कितना पुरहकीकत[2] है ये दुनिया में।
भला कीजे भला होगा बुरा कीजे बुरा होगा ॥

प्रायः जिन घरों में बहुएँ सास से लड़ती हैं। उन्हें भी आगे चलकर जब वे सास बनती हैं तो लड़नेवाली बहुएँ प्राप्त होती हैं। जहाँ माता-पिता का अनादर किया जाता है वहाँ माता-पिता बनने पर उनकी सन्तान द्वारा उनका भी वैसा ही अपमान होता है, इसीलिए तो कहा है–

फल-फूल दे फल-पात ले, दुःखदर्द दे आफात[3] ले।
कलियुग नहीं करयुग है यह उस हाथ दे इस हाथ ले ॥

यह मानव शरीर अनुपम है, यह कर्मयोनि है। यह स्वर्ग

---

१. वचन। २. सत्य से भरपूर। ३. आपत्तियाँ।

का सोपान और मुक्ति का द्वार है। इस शरीर में किये हुए कर्मों से हम मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, परमात्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं, परन्तु दुष्टकर्म करने से हम महा-अन्धकारमय कीट-पतङ्ग की योनि में भी जा सकते हैं।

इस दुर्लभ मानवदेह को पाकर हमें शुभ और श्रेष्ठ कर्मों का अनुष्ठान करते हुए प्रभु-प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। उपनिषद् के ऋषि ने चेतावनी देते हुए कहा है-

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

-केनो० १.५

यहाँ इसी जन्म में यदि ईश्वर को जान लिया, उसका साक्षात्कार कर लिया तो ठीक है, परन्तु इस जन्म में उसे प्राप्त न किया तो महान् हानि है, जन्म निष्फल है।

इसी जन्म में उसे जानने का प्रयत्न करो। लङ्गर-लङ्गोटे कसकर तैयार हो जाओ और आगे बढ़ो-

उत्तिष्ठत जागृत प्रांप्य वरान् निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।।

-कठो० ३.१४

उस परमात्मा को पाने के लिए, उठो, जागो और श्रेष्ठ जनों के पास पहुँचकर उनसे परमात्मा के रहस्य को जानो। जैसे उस्तरे की धार लाँघने में कठिन और तीखी होती है। वैसे ही यह मार्ग कठिन है, ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं, परन्तु शुभकर्म और पुरुषार्थ से सफलता मिलेगी, अवश्य मिलेगी।

किꣳस्वित्सूर्यसमं ज्योतिः किꣳसमुद्रसमꣳसरः।
किꣳस्वित्पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते॥
ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमꣳसरः।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते॥

—यजुः० २३.४७-४८

प्रश्न— १. (सूर्यसमम्) सूर्य के समान (ज्योतिः) ज्योति, प्रकाश (किंस्वित्) कौन-सा है?

२. (समुद्रसममं) समुद्र के तुल्य (सरः) सरोवर, तालाब (किंस्वित्) कौन-सा है?

३. (पृथिव्यै) पृथिवी से (वर्षीयः) बड़ी (किंस्वित्) क्या वस्तु है?

४. (कस्य) किसका (मात्रा) परिमाण, तुल्यता (न विद्यते) नहीं है?

उत्तर— १. (ब्रह्म) ब्रह्म (सूर्यसमम्) सूर्य के समान (ज्योतिः) ज्योति है।

२. (द्यौः) द्युलोक (समुद्रसमम्) समुद्र के समान (सरः) तालाब, जलाशय है।

३. (इन्द्रः) इन्द्र (पृथिव्यै) पृथिवी से (वर्षीयान्) बड़ा है।

४. (गोः) गौ का (तु) तो (मात्रा) परिमाण (न विद्यते) नहीं है।

यहाँ भी पहले मन्त्र में चार प्रश्न और दूसरे मन्त्र में उनके उत्तर हैं। हम क्रमशः एक-एक प्रश्नोत्तर पर विचार करेंगे।

पहला प्रश्न है सूर्य के समान ज्योति क्या है? उत्तर है–ब्रह्म। संसार के वैज्ञानिक अब तक दो अरब सौर–मण्डलों का पता लगा पाये हैं। इन सौर–मण्डलों में हमारा सूर्य सबसे छोटा होते हुए भी सबसे अधिक प्रकाशमान है। इस सूर्य के प्रखर प्रकाश के समक्ष चन्द्र, सितारे, ग्रह या नक्षत्र सभी मन्द हो जाते हैं, उनका तेज फीका पड़ जाता है। भौतिक जगत् में जिस प्रकार सूर्य महतो महान् है, इसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् में ब्रह्म=परमात्मा सर्वतो महान्, सबसे अधिक बलवान् और प्रकाशमान हैं। सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। वेद में कहा है–

नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन्।
न किरेवा यथा त्वम्।। —ऋ० ४.३०.१

हे परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! तुझसे श्रेष्ठ कोई नहीं है। हे शत्रुसंहारक परमात्मन्! संसार में तुझसे बड़ा भी कोई नहीं है और तेरे सदृश भी कोई नहीं है।

भगवान् की उपमा सूर्य के साथ केवल समझाने के लिए दी गई है। लोक में भी बहुधा इस प्रकार की उपमाएँ दी जाती हैं। एक बार एक मित्र ने कविवर बेनी महोदय के लिए आम भेजे। आम थे कुछ छोटे। बस, कविजी ने तुरन्त एक कविता लिखकर अपने मित्र के पास भेज दी। लीजिए आप भी कविता का रसास्वादन कीजिए–

चींटी की चलावे को? मसा[1] के मुख आही जावें।
सांस की पवन लागे कोसन भगत हैं।।
ऐनक लगाय मरु-मरुके निहारे परें।
अणु परमाणु की समानता खगत हैं।।

---

१. मच्छर।

बेनी कवि कहे हाल कहाँ लौं बयान करौं।
मेरी जान ब्रह्म को बिचारिबो सुगत है॥
ऐसे आम दीने दया करके दयाराम ने।
जाके आगे सरसों सुमेरु-सी लगत है॥

यहाँ आमों को सरसों से भी छोटा बताया गया है। आम सरसों से छोटा नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार भगवान् सूर्य से छोटा नहीं है। सूर्य की ईश्वर से क्या तुलना! कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगवा तेली। ईश्वर कितना महान् है, इस बात को वेद में अन्यत्र इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमिरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥

—अथर्व० २०.८१.१

सैकड़ों आकाश ईश्वर की अनन्तता को नहीं माप सकते। सैकड़ों भूमियाँ उसकी तुलना नहीं कर सकतीं। सहस्रों सूर्य, पृथिवी और आकाश भी उसकी तुलना नहीं कर सकते।

उपनिषद् के ऋषि ने भी कितना सुन्दर कहा है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं,
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

—मुण्ड० २.२.१०

उस ब्रह्म को न सूर्य प्रकाशित करता है, न चाँद-तारागण, न ही ये बिजलियाँ उसे प्रकाशित कर सकती हैं। फिर भला! इस भौतिक अग्नि की तो बात ही क्या है! वस्तुतः उसके प्रकाशमान् होने से ही ये सब प्रकाशित होते हैं, उसकी ज्योति ही इस सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित और आलोकित

करती है।

ईश्वर कितना महान् है, कैसा ज्योतिःपुञ्ज है, इस बात को गीता में भी बहुत ही उत्तमरूप से वर्णित किया गया है—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥

—गीता० ११.१२

आकाश में सहस्रों सूर्यों के उदय होने पर जो प्रकाश होता है वह प्रकाश भी उस विश्वरूप परमात्मा के प्रकाश के सदृश कदाचित् ही होवे।

ब्रह्म स्वतः प्रकाशमान् है। वह सूर्य आदि के प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता। सूर्यादि का प्रकाश तो उसके समक्ष तुच्छ है। ब्रह्म सूर्य से आलोकित नहीं होता, अपितु सूर्य ही उसके आलोक से आलोकित होता है। तभी तो उपनिषद् में कहा है—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्मनिष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तदध्यात्मविदो विदुः॥

—मुण्डको० २.२.९

प्रकाशमय परमकोश—हृदयदेश में निर्मल और निष्कल ब्रह्म विराजमान है। वह शुद्ध, पवित्र और निर्मल है, वह ज्योतियों की ज्योति है। जो आत्मज्ञानी हैं, वे ही उसे जानते हैं।

इसी मुण्डकोपनिषद् में प्रभु के गुणों का निरूपण कर उसकी प्राप्ति के साधन और उसका फल भी बता दिया है। पाठकों के लाभार्थ यहाँ कुछ दिग्दर्शन कराते हैं।

वह परमात्मा कैसा है? वह प्रकट है, सदा एकरस एवं अखण्ड है। वह अत्यन्त समीप है। उसके दर्शन हृदयगुहा में

होते हैं। वह प्रकाशमान् है। वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म है। वही अविनाशी ब्रह्म है, वह सत्य और अमृत है। उसी को अपने जीवन का लक्ष्य समझो तथा ब्रह्म-विद्यारूपी धनुष लेकर उसमें उपासना से तीव्र किया हुआ तीर जोड़कर लक्ष्य भेदन करो—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

—मुण्डको० २.२.४

प्रणव=ओ३म् धनुष है, आत्मा तीर है और ब्रह्म उसका लक्ष्य=निशाना है। आलस्य को छोड़कर, पूर्ण सावधान होकर उस लक्ष्य को बींधना चाहिए। उपासक को तीर चलानेवाले की भाँति तन्मय हो जाना चाहिए।

उस ब्रह्म की प्राप्ति का फल क्या होता है? उपनिषद् कहता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

—मुण्ड० २.२.९

उस परावर ब्रह्म के दर्शन करने पर हृदय की गाँठ खुल जाती है। सब संशय कट जाते हैं और इसके कर्म क्षीण=दुर्बल हो जाते हैं।

कितना सुन्दर वर्णन है। परमात्मा का स्वरूप बताकर उसकी प्राप्ति का साधन 'ओ३म्' बताया है। वेद में अन्यत्र (यजुः० २.१३) भी 'ओम् प्रतिष्ठ' (ओम् में प्रतिष्ठित होओ) कहा है। यजुः० ४०.१५ में 'ओ३म् क्रतो स्मर' (हे कर्मशीलजीव! तू ओम् का स्मरण कर) कहा है। वेद में रामं स्मर, कृष्णं स्मर, 'नमो भगवते वासुदेवाय' इत्यादि कहीं

भी नहीं कहा गया है। राम-कृष्ण आदि की पूजा तो साम्प्रदायिकों ने चलाई है। ध्यान की तन्मयता बताने के लिए धनुष-बाण का कितना उत्तम दृष्टान्त दिया है।

'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः' में एक और रहस्य भी अन्तर्निहित है। योगदर्शन में कहा है—

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्। —योग० ३.२६

सूर्य में संयम करने से खगोल का ज्ञान हो जाता है।

सूर्य अपने मण्डलवर्त्ती लोकों को आकर्षण के द्वारा अपने वश में रखता है। जैसे सूर्य में संयम करने से लोकों का ज्ञान होता है, इसी प्रकार जगत् के आदिकारण ब्रह्म में संयम—धारणा, ध्यान, समाधि लगाने से सारे संसार का ज्ञान हो जाता है, इसीलिए तो उपनिषद् में कहा है—

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ।

—मुण्डक० २.२.५

उस परमात्मा को ही जानो, अन्य बातों को, व्यर्थ की गपशप को छोड़ दो। परमात्मा का ज्ञान होने पर सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाएगा।

ब्रह्म का एक अर्थ ज्ञान भी होता है। ज्ञान से बढ़कर और कौन-सा प्रकाश हो सकता है? ज्ञान के द्वारा ही पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विवेक होता है। ज्ञान के द्वारा ही संसार के सारे व्यवहार चलते हैं और 'विद्ययामृतमश्नुते' (यजुः० ४०.१४) विद्या के द्वारा ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है, अतः सूर्य के साथ विद्या की उपमा ठीक ही है।

अब दूसरे प्रश्नोत्तर पर विचार कीजिए। प्रश्न है समुद्र के समान तालाब कौन-सा है? उत्तर है द्युलोक समुद्र के

समान तालाब, सरोवर, जलाशय है।

आधिदैविक पक्ष में द्यौ का अर्थ द्युलोक है। सचमुच यह द्युलोक समुद्र के समान एक विशाल सरोवर है। इस द्युलोक में जल की अपार राशि विद्यमान रहती है। इस द्युलोक में जल रहता है तभी तो उसकी वृष्टि होती है, अतः द्युलोक की समुद्र से उपमा सर्वथा सङ्गत है।

हमें तो यहाँ आध्यात्मिक व्याख्या देखनी है। इसके लिए हमें शब्दों की गहराई में जाना होगा। महर्षि यास्क ने समुद्र शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की है—

समुद्रः कस्मात्? समुद्द्रवन्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः ॥

—निरुक्त २.६.१०

समुद्र को समुद्र क्यों कहते हैं? जिससे जल दौड़कर निकलते हैं अथवा जिसमें जल दौड़कर जाते हैं, इसलिए इसे समुद्र कहते हैं। निरुक्तकार के समक्ष पार्थिव समुद्र और अन्तरिक्षस्थ सागर हैं। भूमिस्थ समुद्र की ओर नदियों का जल दौड़कर जा रहा है और अन्तरिक्षस्थ समुद्र से वृष्टि के रूप में जल दौड़कर आ रहा है। समुद्र शब्द से दोनों सागरों का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है, परन्तु समुद्र का ठीक-ठीक यौगिक अर्थ तो 'समुद्द्रवन्ति अस्मात् एनं वा' है। आपः शब्द का प्रयोग तो महर्षि ने समझाने के लिए किया है। आपः को हटा दिया जाए तो समुद्र शब्द का अर्थ मन अथवा हृदय भी हो जाता है। हृदय से नाना प्रकार के भावों की उत्पत्ति होकर कर्मेन्द्रियों द्वारा उनका प्रकाश होता है और ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञान की धाराएँ हृदय की ओर दौड़ रही हैं। इस प्रकार समुद्र का अर्थ हृदय या मन शास्त्रानुमोदित और युक्तियुक्त है।

समुद्र और मन अथवा हृदय की तुलना से भी यह बात

सिद्ध होगी। जैसे समुद्र में उत्ताल तरङ्गें उठती हैं, उसी प्रकार मन में भी अनेक प्रकार की तरङ्गें उठती रहती हैं। समुद्र में ग्राह, घड़ियाल और मछलियाँ होती हैं। मन में भी काम, क्रोध और अहङ्कार आदि जकड़नेवाले बन्धन होते हैं। समुद्र में तरङ्गों और जन्तुओं के कारण भयङ्कर शब्द होते हैं। हृदय में भी रोग, शोक आदि के कारण भयङ्कर शब्द होते हैं। चन्द्रमा के भावाभाव में समुद्र घटता और बढ़ता है। इसी प्रकार विषयों के भावाभाव में मन में भी हर्ष एवं शोक होता है। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से भी समुद्र का अर्थ मन अथवा हृदय उचित ही है।

समुद्र विशालता का प्रतीक है, अतः प्रश्न का अर्थ हुआ समुद्र या अन्तरिक्ष के तुल्य विशाल सरोवर कौन-सा है। उत्तर है 'द्यौः.......' द्यौ का अर्थ यहाँ मन है। वेद में द्यौ शब्द का प्रयोग एक विशेष कारण से किया गया है। मन, समुद्र की तो बात ही क्या उससे भी विशाल होता है, परन्तु किसी-किसी का मन परमाणु से भी क्षुद्र होता है। वेद कहता है मन समुद्र के समान विशाल सर है। मन को द्यौ कहकर उसे वेद-ज्ञान के आलोक से आलोकित और आत्मविद्या के प्रकाश से प्रकाशित समुद्र के समान सर कहा जा रहा है। आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए अन्तःकरण को शुद्ध-पवित्र और निर्मल बनाने की परमावश्यकता है। ब्रह्म अनन्त है उसका दर्शन क्षुद्र, सङ्कीर्ण, ईर्ष्या-द्वेष से दूषित, और रागद्वेष से युक्त अन्तःकरण से कैसे हो सकता है? प्रभुदर्शन के लिए तो मन को द्यौ के समान विशाल बनाना होगा। जिस प्रकार द्युलोक में सूर्यादि अनेक तेजस्वी और प्रकाशमान् पदार्थ हैं इसी प्रकार शुद्ध मन भी अनेक विद्याओं का केन्द्र बन जाता है। वेद में कहा है-

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
—यजुः० ३४.५

जिस प्रकार रथ की नाभि में अरे जुड़े रहते हैं, इसी प्रकार जिस मन में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और उनके अन्तर्गत होने से अथर्ववेद भी प्रतिष्ठित है, जिस मन में प्राणियों का सम्पूर्ण ज्ञान समाया हुआ है, वह मेरा मन उत्तम, शुभ और शिवसङ्कल्पोंवाला हो।

क्या मलिन, राग-द्वेष, ईर्ष्या, मद, अहङ्कार से पूरित मन में यह शक्ति आ सकती है? कभी नहीं।

हृदय को द्यौ की उपमा देनें का एक अन्य कारण भी है। ज्योतिःस्वरूप परमात्मा का निवास हृदय में है। वहीं उसका साक्षात्कार होता है। वेद में कहा है—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सत्। —यजुः० ३२.८

ज्ञानी लोग उस परमात्मा का हृदय-गुहा में साक्षात्कार करते हैं।

उपनिषदों में भी कहा है—

तं दुर्दशं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥
—कठो० २.१२

उस कठिनता से दर्शनीय, गूढ़, सबमें व्याप्त, हृदय-गुहा में रहनेवाले, सर्वसाक्षी, अनादि परमात्मा को अध्यात्म-योग द्वारा मनन करके बुद्धिमान् हर्ष-शोक को छोड़ देता है।

अणोरणीयान् महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥
—कठो० २.२०

इस देहधारी मनुष्य के भीतर हृदय में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्-से-महान् परमात्मा छिपा हुआ है। कोई वीतशोक और निष्कामकर्त्ता पुरुष ही अपने आत्मा और अपनी महत्ता के हेतु परमात्मा को देख पाता है।

इस तत्त्व को समझकर मनुष्य को चाहिए कि वह अपने हृदय को रागद्वेषादि मलों से शून्य कर उसे शुद्ध, पवित्र एवं निर्मल बनाए। लोकोपकारक भावों से मन को क्षुद्रता-रहित कर उसे विशाल बनाना चाहिए, तभी उसमें परमात्मा के दर्शन हो सकेंगे।

एक और कारण से भी द्यौ का अर्थ हृदय करना उचित है। पहले प्रश्नोत्तर में ब्रह्म को सूर्य के समान ज्योति कहा है। उसके दर्शन कहाँ हो सकते हैं? हृदय में। हृदय तो सङ्कीर्ण है, क्षुद्र-सा है, वहाँ सहस्त्रों सूर्यों के समान भासमान प्रभु के दर्शन कैसे हो सकते हैं? इस शङ्का के समाधानार्थ वेद ने हृदय को 'द्यौः' कहा है। हृदय प्रकाश-आधार है। आत्मा और परमात्मा के मिलाप के लिए स्थान की विशालता की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है ज्ञान-ज्योति की। हृदय-आकाश छोटा नहीं है बहुत विशाल है। जिस स्थान पर सर्वतोमहान् प्रभु रहते हों वह स्थान छोटा कैसे हो सकता है? इस तत्त्व को समझकर हमें भी अपने मन को निर्मल कर प्रभुदर्शन की ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

अब तीसरे प्रश्नोत्तर को देखिए। प्रश्न है पृथिवी से बड़ा कौन है? वेद उत्तर देता है 'इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान्।' इन्द्र पृथिवी से वृद्ध-आयु में बड़ा है।

बालक भी जानते हैं कि इन्द्रिय का अर्थ है साधन, करण अथवा उपकरण या हथियार। शरीर में इन्द्रिय यदि कार्य का साधन है तो कोई कर्त्ता भी होना चाहिए, वह कर्त्ता

है इन्द्र। इन्द्र को ही जीवात्मा भी कहते हैं।

पृथिवी का अर्थ यदि प्रसिद्ध भी लें तो अर्थ होगा जीवात्मा पृथिवी से बड़ा है। यह सारी सृष्टि, सृष्टि के सभी पदार्थ जीवात्मा के लिए निर्मित किये गये हैं। पृथिवी विनाशी है, अनित्य है, परन्तु जीवात्मा पृथिवी के लिए नहीं, अतः आत्मा पृथिवी से बड़ा है।

पृथिवी का एक अर्थ शरीर भी होता है। वेद में कहा है—**'पृथिवी शरीरम्।'** (अ० ५.९.७) अब वाक्य के अर्थ की योजना इस प्रकार होगी—जीवात्मा आयु में शरीर से बड़ा है। शरीर और पृथिवी तो मरणधर्मा हैं, परन्तु आत्मा तो नित्य है। आत्मा तो अजर, अमर अनादि और चेतन है।

शरीर अनित्य, सादि और जड़ है, अतः आत्मा आयु में शरीर से बहुत बड़ा है।

इन्द्र का एक अर्थ परमात्मा भी होता है। पिण्ड=शरीर का इन्द्र आत्मा है तो ब्रह्माण्ड का इन्द्र परमात्मा है। पृथिवी समस्त सृष्टि, सारे ब्रह्माण्ड का उपलक्षण है। परमात्मा सृष्टि से बड़ा है इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। यह सारा ब्रह्माण्ड तो उसके एक पाद में है परमात्मा तो इससे बहुत बड़ा है।

इस प्रश्नोत्तर में परमात्मा ने आत्मा की नित्यता की सूचना दी है और जीवात्मा को चेतावनी दी है कि अनित्य पदार्थों में चित्त मत लगाओ। नित्य आत्मा का कल्याण नित्य परमात्मा से ही हो सकता है। 'ओम्' शब्द से यह बात बहुत अच्छी प्रकार स्पष्ट होती है। 'ओम्' में तीन अक्षर हैं अ, उ और म्। 'अ' ब्रह्म का वाचक है 'उ' जीव का और 'म्' प्रकृति का। 'उ' जीव जब प्रकृति की उपासना करता है तो उसकी अवनति होती है। वह पददलित होता है और 'मकार' के नीचे [~] इस रूप में पहुँच जाता है, परन्तु जब जीव

प्रकृति में न फँसकर उसका उचित उपयोग लेते हुए प्रभु की ओर चलता है, उसका ध्यान और उसकी आराधना करता है, उसकी उपासना करता है तो उसकी उन्नति होती है। वह 'अ' के ऊपर बैठकर 'ओ' बन जाता है, अतः अविनाशी परमात्मा की ओर चलने में ही जीव का कल्याण है।

धन-सम्पत्ति, माल, कोश ये सब अनित्य हैं, नाशवान् हैं। इन विनाशी पदार्थों से उस नित्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। अनित्य पदार्थों के मोह और आसक्ति को त्यागकर ही नित्य आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है।

चौथा प्रश्नोत्तर है—किसकी तुलना नहीं की जा सकती? वेद ने कहा—'गोस्तु मात्रा न विद्यते।' गौ की तुलना नहीं की जा सकती और वाणी का कोई परिमाण नहीं है।

वेद गो-महिमा से भरे हुए हैं। वेद में स्थान-स्थान पर गो-माता का गौरव गान किया गया है। लीजिए, कुछ स्थलों का अवलोकन कीजिए—

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्। —ऋ० ६.२८.१

गाएँ हमारे घरों में आएँ और हमारा कल्याण करें।

वेद में गाय को परम-ऐश्वर्य माना गया है—

इमा या गावः स जनास इन्द्रः। —ऋ० ६.२८.५

हे मनुष्यो! ये जो गाएँ हैं, वे ही परमैश्वर्य हैं।

ऋग्वेद में पशुओं में गौ का नाम ही प्रमुख है। अथर्ववेद में गो-पूजा का वर्णन है। गोहत्यारे को गोली से मारने का विधान है। इतना ही नहीं अथर्ववेद में तो यहाँ तक कहा है—

यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम्॥

—अथर्व० १३.१.५६

जो पुरुष गौ को ठोकर मारता है और सूर्य की ओर मुख करके मूत्र करता है, ऐसे मनुष्य को मैं जड़मूल से नष्ट करता हूँ, जिससे वह फिर इस प्रकार का अपमानजनक कार्य न करे।

वेद भक्तों के लिए गौ कितनी प्रिय थी, इसका वर्णन मैक्डानल महोदय ने सुन्दर किया है। वे लिखते हैं–

"No sight gladdened the eye of the *Vedic* Indian more than the cow returning from the pasture and licking her calf fastened by a chord; no sound was more musical to his ear than the lowing of milch kine."

—*History of Sanskrit Literature P. 126*

भारतीय वैदिकों को कोई भी दृश्य इतना प्रमुदित नहीं करता था जितना गोचरभूमि से लौटती हुई और रस्सी से बँधे हुए बछड़े को चाटती हुई गौएँ। उनके कानों के लिए कोई भी ध्वनि इतनी सङ्गीतमय नहीं थी जितनी दुधारू गौओं का रम्भाना।

गो–महिमा का वर्णन करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं–

"एक गाय की एक पीढ़ी में ४,७५,६०० (चार लाख पचहत्तर हज़ार छह सौ) मनुष्य एक बार पालित होते हैं और पीढ़ी–पर–पीढ़ी बढ़ाकर लेखा करें तो असंख्यात मनुष्यों का पालन होता है।" —स०प्र० दशम समुल्लास

आयुर्वेद के ग्रन्थ भी गो–महिमा से भरे पड़े हैं। यहाँ कुछ उद्धरण देते हैं–

कण्डूकिलासगुदशूलमुखाक्षिरोगान्
गुल्मातिसारमरूदामयमूत्ररोधान्।
कासं सकुष्ठजठरकृमिपाण्डुरोगान्
गोमूत्रमेकमपि पीतमपाकरोति ।।

—भावप्रकाशनिघण्टु, मूत्रवर्ग

केवल गोमूत्र के पीने से खुजली, किलास, गुदा का दर्द, मुख और आँखों के रोग, गोला, दस्त लगना, वायुरोग, मूत्र रुकना, खाँसी, कोढ़, पेट के कीड़े और पाण्डुरोग (पीलिया) की निवृत्ति होती है।

अब गोघृत की महिमा देखिए—

गव्यं घृतं विशेषेण चक्षुष्यं वृष्यमग्निकृत्,
स्वादु पाकरसं शीतं वातपित्तकफापहम् ॥
बल्यं पवित्रमायुष्यं सुमङ्गल्यं रसायनम्,
सुगन्धं रोचकं चारु सर्वाज्येषु गुणाधिकम् ॥
—भावप्रकाशनिघण्टु

गोघृत नेत्रों के लिए हितकारी, वीर्य को बढ़ानेवाला, जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला, स्वादिष्ट, रसों को पचानेवाला, शीतल, वात, पित्त और कफ का नाशक है। गोघृत बलकारी, पवित्रता लानेवाला, आयु बढ़ानेवाला, मङ्गल करनेवाला, सुगन्धित-रसायन है और समस्त घृतों में श्रेष्ठ है।

अब गोदधि (दही) के गुण भी देखिए—

स्निग्धं विपाके मधुरं दीपनं बलवर्धनम्।
वातापहं पवित्रं च दधिगव्यं रुचिप्रदम्॥

गाय का दही स्निग्ध, पाक में मधुर, जठराग्नि दीपक, बलवर्धक, वात-पित्त-नाशक, परम-पवित्र, रुचिकारक, शीतल और आँवनाशक है।

गोदुग्ध के गुणों का वर्णन भी देखने योग्य है—

पथ्यं रसायनं बल्यं हृद्यं मेद्यं गवां पयः।
आयुष्यं पुंस्त्वकृद्वातरक्तपित्तविकारनुत् ॥

गाय का दूध पथ्य (सब रोगों और अवस्थाओं में सेवन करने योग्य) रसायन, बलकारक, हृदय के लिए हितकारी,

मेधाबुद्धि देनेवाला, आयुवर्धक, पुरुषत्व-शक्तिवर्धक, वातनाशक तथा रक्तपित्त के विकारों और रोगों का नाश करनेवाला है।

इतना ही नहीं—**'क्षीरात् परम नास्ति जीवनीयम्'** गोदुग्ध से बढ़कर कोई जीवनदायक पदार्थ नहीं है।

पञ्चगव्य में गोबर भी डाला जाता है। गोबर को आयुर्वेद के ग्रन्थों में रोगों और शोक को दूर करनेवाला कहा गया है। अब तो पाश्चात्य देशवासियों ने भी इस बात को स्वीकार किया है—

"इटली में अब भी हैजा या अतिसार के रोगी को ताजे पानी में ताजा गोबर घोलकर पिलाते हैं और जिस तालाब के पानी में हैजे के जन्तु उत्पन्न हो गये हों उसमें गोबर डालते हैं। उनका अनुभव है कि इससे हैजे के जन्तु तुरन्त मर जाते हैं।"
—कल्याण, गौ अङ्क पृ० ४१३

गौ के दूध, घी और गोबर मूत्रादि में जो विशेषता है, वह विशेषता अन्य किसी भी पशु के दुग्धादि में नहीं है, इसीलिए वेद कहता है"—**'गोस्तु मात्रा न विद्यते।'** गौ की तुलना नहीं की जा सकती।

गौ का दूसरा अर्थ है वाणी। वाणी की महिमा और गरिमा का भी वर्णन नहीं किया जा सकता। **'अनन्तपारं किलशब्दशास्त्रम्।'** शब्दशास्त्र तो अपार है, इसीलिए वाणी को ब्रह्म कह दिया गया है। वेद में वाणी की महिमा इस प्रकार गाई गई है—

तस्याः समुद्रा अधि विक्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्त्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुप जीवति।। —ऋ० १.१६४.४२

उस वाणी से शब्दरूप समुद्र निकलते हैं, उस वाणी से चारों दिशाएँ जीती हैं, उस वाणी से अक्षर=अमृत टपकता है। उस अमृत से समस्त विश्व का जीवन है।

इस वाणी का सदुपयोग करें तो इससे अमृत झरता है और दुरुपयोग करने से विष। इस विषय में एक बहुत ही मनोरम दृष्टान्त है–

एक नम्बरदार किसी शहर में गया। सामान खरीदते हुए रात्रि हो गई। उसने सोचा आज शहर में ही ठहरा जाए। स्थान खोजते हुए वह एक सराय (धर्मशाला) में पहुँचा। वहाँ सराय की स्वामिनी बुढ़िया को उसने खिचड़ी बनाने के लिए कहा। वह खिचड़ी बनाने लगी। नम्बरदार बैठा हुआ कुछ सोचता रहा। सराय में एक हृष्ट-पुष्ट गाय बँधी हुई थी। सोचते-सोचते नम्बरदार कहने लगा, 'ओ भटियारिन्! तुम्हारी सराय का दरवाजा तो है बहुत छोटा और गाय है बहुत मोटी। यदि यह मर जाए तो बाहर कैसे निकलेगी? भटियारिन् को क्रोध तो बहुत आया, परन्तु वह चुप रही। नम्बरदार भी थोड़ी देर चुप रहकर फिर बोला–"ओ भटियारिन्! यहाँ कोई मनुष्य तो दिखाई देता नहीं, तुम्हारा काम कैसे चलता है? उसने कहा "मेरे दो पुत्र देहली में नौकरी करते हैं, वे ही मेरा खर्च भेज देते हैं।" नम्बरदार ने कहा, "माताजी! यदि वे दोनों मर जाएँ तब तो आपके लिए समस्या खड़ी हो जाएगी।" बुढ़िया को बड़ा क्रोध आया। उसने उसकी अधपकी खिचड़ी नीचे उतारी और कहा–'इसे ले और निकल यहाँ से।' नम्बरदार के पास कोई बर्तन तो था नहीं। उसने वह खिचड़ी अपनी चादर में ले-ली और चल दिया। नम्बरदार चलता जाता था और पोटली में से रस टपकता जाता था। किसी व्यक्ति ने पूछा "यह क्या टपक रहा है?" नम्बरदार ने कहा "यह मेरी वाणी का रस टपक रहा है।" बन्धुओ! ऐसा रस मत टपकाओ। वाणी से सदा मधुर और मीठा बोलो।

वाणी का ठीक व्यवहार करने से परमशत्रु भी मित्र बन जाते हैं, परन्तु इसका अन्यथा व्यवहार करने से परममित्र भी शत्रु बन जाते हैं। यह तो वशीकरण मन्त्र है। वृद्ध चाणक्यजी कहते हैं–

यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
परापवादशस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय॥

—चा० नी० १४.१४

यदि आप सम्पूर्ण संसार को अपने वश में करना चाहते हो तो दूसरों के निन्दारूपी खेत में चरती हुई अपनी जिह्वा को हटाओ (अर्थात् वश में करो)।

सदा सत्य, प्रिय, हितकर और मधुर ही बोलें, क्योंकि–

कामं दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं,
कीर्तिं सूते दुर्हृदो निष्प्रलाति।
शुद्धां शान्तां मातरं मङ्गलानां,
धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः॥

—उत्तर राम० ५.३०

मधुरवाणी मनुष्य की अभिलाषाओं को पूर्ण करती है, निर्धनता को दूर भगाती है, यश प्रदान करती है, शत्रुओं का विनाश करती है। इसलिए धीर, विद्वान् पुरुष उस शुद्ध, शान्त तथा मङ्गलों को देनेवाली धेनु-रूप सूनृत (सत्य एवं प्रिय) वाणी को ही बोलते हैं।

पृच्छामि त्वा चितयै देवसख यदि त्वमत्र मनसा जगन्थ।
येषु विष्णुस्त्रिषु पदेष्वेष्टस्तेषु विश्वं भुवनमा विवेशाँ३ऽ॥
अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि येषु विश्वं भुवनमा विवेश।
सद्यः पर्य्येमि पृथिवीमुत द्यामेकेनाङ्गेन दिवोऽअस्य पृष्ठम्॥

—यजु:० २३.४९, ५०

प्रश्न–(देवसख) हे परमात्मा के प्यारे! अथवा विद्वानों के मित्र! (चितये) ज्ञान-प्राप्ति के लिए (त्वा) तुझसे (पृछामि) पूछता हूँ (यदि) यदि (त्वम्) तूने (अत्र) इस विषय में (मनसा) मन से (जगन्थ) विचार किया हो। परमात्मा पक्ष में–(यदि) यदि (त्वम्) तू (अत्र) यहाँ (मनसा) ज्ञानरूप से (जगन्थ) व्याप्त है। (येषु) जिन (त्रिषु पदेषु) तीन पदों में (विष्णुः) विष्णु (आ इष्टः) भले प्रकार से इष्ट होता अथवा पूजा जाता है (तेषु) उनमें (विश्वम्) सब (भुवनम्) संसार (आविवेश) पूर्णरूप से व्याप्त है अथवा नहीं।

उत्तर–(येषु) जिन (त्रिषु पदेषु) तीन पदों में (विश्वं भुवनम्) सम्पूर्ण संसार (आविवेश) समाया हुआ है (तेषु) उन तीन पदों में (अस्मि) मैं हूँ (अपि) और तू भी है, परन्तु मैं (सद्यः) बहुत शीघ्र, एक क्षण में (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) अन्तरिक्षलोक तथा (अस्य) इस (दिवः) सूर्यादि प्रकाशमय लोकों के (पृष्ठम्) आधार को (एकेन) अकेले (अङ्गेन) अङ्ग से (परि+एमि) पूरी तरह प्राप्त होता हूँ।

यहाँ प्रथम मन्त्र में एक प्रश्न है और दूसरे मन्त्र में

उसका उत्तर है। यहाँ प्रश्न तो एक ही है, परन्तु है बहुत गम्भीर।

इस प्रश्नोत्तर की मीमांसा करने से पूर्व हमें विष्णु शब्द पर विचार करना होगा। वेदों में विष्णु और उसके तीन पदों का वर्णन अनेक स्थानों पर आया है। ब्राह्मणग्रन्थों तथा पुराणों में भी विष्णु और उसके तीन पदों की चर्चा अनेक बार हुई है। विष्णु और उसके तीन पदों का ज्ञान होने पर मन्त्र का सारा रहस्य स्पष्ट हो जाएगा। वेद में विष्णु का वर्णन इस प्रकार हुआ है–

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूळ्हमस्य पांसुरे।। —ऋ० १.२२.१७

इस मन्त्र में 'विष्णु' 'त्रेधा' और 'पदम्' शब्दों को देखकर पौराणिकों ने इस मन्त्र में वामनावतार और उसके तीन पदों की कल्पना कर डाली। वेद में इतिहास खोजनेवालों के अनुसार इस मन्त्र में निम्न घटना का संकेत है।

दैत्यराज बलि के इन्द्रत्व को स्थायी बनाने के लिए उनके गुरु शुक्राचार्य ने उससे अश्वमेधयज्ञ कराना आरम्भ कर दिया। जिस समय बलि सौवाँ यज्ञ कर रहा था, उस समय देवता बहुत भयभीत हुए। देवों को सङ्कट से छुड़ाने के लिए विष्णु ने देवमाता अदिति के यहाँ जन्म ग्रहण किया। वे चतुर्भुज रूप में प्रकट हुए थे, परन्तु उन्होंने शीघ्र ही वामन का रूप धारण कर लिया। वामन ने ब्रह्मचारी वेश में दैत्यराज बलि की यज्ञशाला में प्रवेश किया। बलि ने उनके दिव्य तेज से प्रभावित और आकृष्ट होकर स्वागत किया तथा अपनी अभीष्ट वस्तु माँगने की प्रार्थना की।

वामनजी ने बलि से प्रतिज्ञा करा ली कि वे जो कुछ माँगेंगे, बलि उसे प्रदान करेगा। बलि के प्रतिज्ञाबद्ध होने पर

वामन ने अपने तीन पगों से तीन पग पृथिवी माँगी। बलि ने भूमिदान का सङ्कल्प कर दिया। सङ्कल्प होते ही भगवान् वामन ने विराट् रूप धारण करके एक पद में सम्पूर्ण पृथिवी और दूसरे पद में ब्रह्मलोक तक सब माप कर कहा—"अब तीसरे पग के लिए स्थान बताओ। अन्यथा मेरे साथ झूठ बोलकर छल करने के कारण तुम्हें नरक जाना पड़ेगा।"

मनस्वी बलि ने अपना मस्तक आगे करते हुए कहा—प्रभो! मुझे नरक से भय नहीं लगता, परन्तु यदि आप मेरा सङ्कल्प मिथ्या मानते हैं तो उसे मैं सत्य सिद्ध कर रहा हूँ। "सम्पत्ति से उसका स्वामी बड़ा होता है, अतः आप अपना तीसरा पद मेरे मस्तक पर रख दें।" वामन ने बलि के मस्तक पर तीसरा पद रख दिया और उनके आदेश पर उनके पार्षद विष्वक् ने बलि को बाँध लिया।

उपर्युक्त मन्त्र में इस घटना का कोई संकेत नहीं है। जब वेद में ईश्वर को 'अज' (ऋ० ७.३५.१३) और 'अकायम्' (यजुः० ४०.८) कहा गया है तो वह जन्म कैसे ले सकता है? वेदज्ञान सृष्टि के आदि में दिया गया था। जब राजाओं की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी तो वेद में उनका इतिहास कैसे हो सकता है? अतः वेद में इतिहास खोजना अनर्गल प्रलापमात्र है। हम वेद में इतिहास खोजनेवालों से पूछना चाहते हैं कि यदि वेद में इतिहास है तो क्या कोई माई का लाल इतिहास में 'द्रौपदी का पुत्र अर्जुन' दिखा सकता है? वेद ने कहा है—

कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सोऽजायत।
सह द्यामधि रोहति रूहो रूरोह रोहितः॥

—अथर्व० १३.३.२६

वेद में इतिहास खोजनेवालों के अनुसार इस मन्त्र में पड़े हुए 'कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनः' का अर्थ द्रौपदी का पुत्र

अर्जुन होगा, परन्तु कोई भी इतिहासवेत्ता तीन काल में भी इसे सिद्ध नहीं कर सकता। मन्त्र का ठीक अर्थ इस प्रकार है–

(कृष्णायाः) कृष्ण वर्णवाली (रात्र्याः) रात्रि से [प्रलय अवस्था के पश्चात्] (पुत्रः) पवित्र करनेवाला, शोधक (अर्जुनः) श्वेत (वत्सः) निवास देनेवाला सूर्य (अजायत) उत्पन्न होता है। (सः) वह (रोहितः) दीप्तिमान् सूर्य (रूहः रूरोह) उच्च-उच्च स्थानों को क्रम से चढ़ता हुआ (द्याम् अधि) आकाश में ऊपर चढ़ता है।

वेद में राम, कृष्ण, च्यवन, अर्जुन, दधीचि, विश्वामित्र और वसिष्ठ आदि शब्दों को देखकर उसमें इतिहास की कल्पना करना वेद के साथ अन्याय करना है और अपनी अज्ञानता का परिचय देना है। इदं विष्णुर्वि–इत्यादि मन्त्र का ठीक अर्थ यह है–

(विष्णुः) चर और अचर–सम्पूर्ण विश्व में व्यापक परमेश्वर (इदम्) इस प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष सब जगत् को (त्रेधा) तीन प्रकार से, तीन साधनों से [सत्त्व, रज, तमरूपी त्रिगुणमयी मूल प्रकृति से] (विचक्रमे) विशेषरूप से (निदधे) स्थापित करता है। (पांसुरे) धूलिधूसरित, मायामय इस जगत् में (अस्य) इस सर्वव्यापक विष्णु का रूप भी (समूढम्) खूब गुप्त है, अच्छी प्रकार ढका हुआ है। वह चर्मचक्षुओं से नहीं देखा जा सकता और प्रत्येक व्यक्ति उसे नहीं देख सकता। उस सर्वव्यापक प्रभु को कौन देख सकता है, उसे कौन प्राप्त कर सकता है, वेद में आगे चलकर इस बात को भी स्पष्ट कर दिया है–

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्॥ –ऋ० १.२२.२०

सर्वव्यापक परमेश्वर के उस परमपद को वेदवेत्ता योगी लोग सदा इस प्रकार देखते हैं, जैसे सूर्य के प्रकाश में नेत्र की दर्शनशक्ति व्याप्त होकर समस्त ब्रह्माण्ड का दर्शन करती है। भाव यह है कि उस परमेश्वर को समाधि द्वारा योगी और ज्ञानी लोग ही देख सकते हैं। और–

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदम्॥ —ऋ० १.२२.२१

सर्वव्यापक परमेश्वर का जो सर्वोत्कृष्ट जानने योग्य स्वरूप है उसको प्रभु की स्तुति करनेवाले, मेधावी और सदा जागरूक एवं सावधान पुरुष ही सदा प्रकाशित करते हैं। जो मूर्ख हैं, विषय–भोगों में लिप्त हैं, आलस्य और प्रमाद में डूबे हुए हैं, वे ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकते।

पाठकगण! हम विष्णु और उसके तीन पदों की मीमांसा करने लगे थे। आइए, तनिक देखें कि इनका रहस्य क्या है? विष्णु के अनेक अर्थ हैं। **'यज्ञो वै विष्णुः'** (शतपथ० १३. १.८.८) शतपथब्राह्मण के इस सन्दर्भ के अनुसार विष्णु का अर्थ है यज्ञ। यज्ञ आरम्भ में वामन=छोटा होता है, परन्तु धीरे–धीरे यह दूर–दूर तक फैल जाता है। यज्ञ के तीन पाद हैं—गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण–अग्नि। अथवा प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और सायंसवन—ये तीन पद हो सकते हैं, क्योंकि ये तीन यज्ञमात्र की प्रकृति हैं।

विष्णु का एक अर्थ सूर्य भी होता है। बाल सूर्य भी आरम्भ में वामन ही होता है, परन्तु धीरे–धीरे वह सम्पूर्ण पृथिवी और आकाश को आलोकित कर देता है। प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायङ्काल—ये ही उसके तीन पद हैं।

विष्णु का एक अर्थ आत्मा भी होता है। बाल्यावस्था,

यौवन और जरा[१]—ये ही आत्मा के तीन पद हैं।

संसार के उत्पत्तिकर्ता और पालक को भी विष्णु कहते हैं, जैसा ऋग्वेद में स्पष्ट वर्णन है—

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः॥
यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा॥

—ऋ० १.१५४.३,४

जो अकेला परमात्मा इस दीर्घ=विशाल एवं विस्तृत प्रकृष्टरूप से नियन्त्रित, सहस्थान पार्थिवलोक को तीन पदों=सत्त्व, रज और तम रूप तीन गुणों से नाना प्रकार से रचता है, उस पर्वत मेघादि महाकाय पदार्थों को यथास्थान निवास देनेवाले, उरुगाय=बहुत प्राणियों से अथवा बहुत प्रकार से प्रशंसित, महापराक्रमी, सर्वव्यापक विष्णु से विज्ञान और बल प्राप्त होता है।

इस सर्वव्यापक विष्णु के तीन पद मधुरता से पूर्ण और क्षय को प्राप्त न होते हुए अपनी शक्ति से सबको आनन्द देते हैं। प्रथम स्थान है भूमि। पृथिवी पर अन्न, कन्दमूल, फल-फूल, शाक-पात अनेक प्रकार के सुस्वादु एवं सुमधुर पदार्थ उपलब्ध होते हैं, जिनसे हमारा जीवन धारण होता है। दूसरा स्थान अन्तरिक्ष है जहाँ मेघ, पवन और चन्द्रकिरण आदि जीवनदायी वस्तुएँ विद्यमान हैं। तीसरा स्थान द्युलोक है जहाँ समस्त प्राणियों का जीवनदायक सूर्य देदीप्यमान है। ये पदार्थ कभी भी क्षीण न होते हुए सब लोगों को सुख प्रदान करते हैं। यह सर्वव्यापक विष्णु की ही महिमा है। वह विष्णु ही

---

१. वस्तुतः ये शरीर की अवस्थाएँ हैं, आत्मा पर आरोपित की गई हैं।

तीन धारक गुणों से निर्मित पृथिवी और द्युलोक आदि सारे लोकों को अकेला ही धारण कर रहा है।

इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि विष्णु का अर्थ जगत्कर्त्ता तथा जगद्धर्त्ता परमात्मा है।

अब 'पद' शब्द पर भी थोड़ा-सा विचार कीजिए। पद शब्द के अनेक अर्थ हैं यथा-बोध, ज्ञान, बोध का साधन, बोध का विषय, बोध की प्राप्ति, प्राप्ति का साधन, प्राप्ति का विषय आदि। वेद में विष्णु के साथ पद का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है, यह पहले कहा जा चुका है। ऋग्वेद का पूर्वोद्धृत १.१५४.३ मन्त्र पद शब्द के अर्थ को बहुत स्पष्ट करता है-

य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः।

जो अकेला इस विशाल, प्रकृष्टरूप से नियन्त्रित सहस्थान जगत् को तीन पदों से निर्मित करता है, रचता है। इससे प्रतीत होता है कि तीन पद सृष्टि रचना के साधन हैं। वैदिक दर्शनों में जगत् के उपादानकारण प्रकृति को तीन गुणोंवाली माना है-

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।।

-सांख्य सू० १.६१

सत्त्व, रज और तम की साम्य अवस्था का नाम प्रकृति है।

संसार में सत्त्व, रजस् और तमस् के देखने से त्रिगुणमयी मूलप्रकृति का बोध होता है।

इस विवेचन के पश्चात् अब आप मूल प्रश्नोत्तर को एक बार पुनः देखिए। अब प्रश्नवाले मन्त्र का अर्थ होगा-देवसखा! समझने के लिए तुझसे पूछता हूँ कि जिन

तीन पदों=सत्त्वरजस्तमोरूप तीनों गुणों में सर्वव्यापक जगत् का कर्त्ता-धर्त्ता प्रभु आ=पूर्णरूप से इष्ट=सङ्गत हैं, मिला हुआ है, व्यापक है अथवा सत्त्वरजस्तमोगुणों में यथायोग्य सङ्गति करता है, उनमें सारा संसार आविष्ट है या नहीं?

उत्तर मन्त्र का अर्थ–जिन तीन पदों में सारा संसार समाया है मैं उन तीन गुणों में व्याप्त हूँ और तू भी है, परन्तु मैं एक क्षण में एक अङ्ग से पृथिवी और द्युलोक तथा इसके आधार को पूर्णतया प्राप्त हूँ।

यह उत्तर परमात्मा की ओर से है। परमात्मा कहते हैं–हे जिज्ञासुओ! मैं उन तीन गुणों में व्याप्त हूँ और तू भी उनमें रहता है। प्रकृति से निर्मित शरीर में ही तो जीवात्मा का निवास है, अतः जीवात्मा तीनों गुणों में विद्यमान है। कहीं जीव को यह भ्रान्ति न हो जाए कि मैं भी ब्रह्म की भाँति व्यापक हूँ, अतः इस शङ्का को निर्मूल करने के लिए मन्त्र के उत्तरार्द्ध में कहा कि "मैं तो एक अङ्ग से सारे विश्व में व्यापक हूँ", अर्थात् तू जीव व्यापक नहीं है।

जीव और ब्रह्म न कभी एक थे, न हैं और न होंगे। महर्षि दयानन्द ने जीव और ब्रह्म की एकता का खण्डन इस प्रकार किया है–

१. सर्वशक्तिमत्त्व, भ्रान्त्यादि दोषरहित गुणवाले ब्रह्म का सम्भव जीव में कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जीव अल्पशक्तिवाला है, भ्रान्त्यादि दोषों से युक्त है और अल्पज्ञ है। इसलिए जीव-ब्रह्म की एकता कदाचित् नहीं हो सकती।

२. जो जीव ब्रह्म हो, तो जैसी ब्रह्म ने यह असंख्यात सृष्टि रची है, वैसे एक मक्खी वा मच्छर को भी जीव क्यों नहीं रच सकता? इससे जगत् को मिथ्या और जीव-ब्रह्म की एकता मानना ही मिथ्या है।

३. जीव और ब्रह्म को एक मानने से परमार्थ सब नष्ट हो जाता है, क्योंकि परमेश्वर की आज्ञापालन, स्तुति, प्रार्थना, उपासना करने की प्रीति बिल्कुल छूटने से केवल मिथ्याभिमान, स्वार्थ-साधन-तत्परता, अन्याय करना, पाप-प्रवृत्ति, इन्द्रियों से विषयों के भोग में फँसने से अत्यन्त पामरता और पतितादि दोष पैदा हो जाते हैं।

४. निश्चलदास ने 'वृत्तिप्रभाकर' में लिखा है कि जीव भी चेतन है और ब्रह्म भी चेतन है, इसलिए दोनों एक हैं। महर्षि कहते हैं कि ऐसा अनुमान करना अशुद्ध है, क्योंकि साधर्म्यमात्र से एक-दूसरे के साथ एकता नहीं होती। वैधर्म्य भेदक होता है। यदि कोई कहे कि पृथिवी जड़ होने से पृथिवी जल से अभिन्न है तो उसके वाक्य को असङ्गत कहा जावेगा। इसी प्रकार निश्चलदास की युक्ति भी असङ्गत है। जीव के धर्म ब्रह्म से भिन्न हैं। ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी और निर्भ्रान्त है, परन्तु जीव अल्पज्ञ और सभ्रान्त है, इसलिए ब्रह्म और जीव भिन्न-भिन्न हैं।

५. "अयमात्मा ब्रह्म" का अर्थ साधारणतया यह किया जाता है कि यह आत्मा ब्रह्म है, परन्तु महर्षि दयानन्द ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है-"यह जो मेरा सर्वान्तर्यामी आत्मा है, वही ब्रह्म है। अपने उपास्य का प्रत्यक्षानुभव विधायक जीव के समझने के लिए यह वाक्य है।" आत्मा शब्द का अर्थ जीवात्मा नहीं प्रत्युत परमात्मा है।

६. ऋषि दयानन्द ने कई प्रमाण उपनिषदों के दिये हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि जीव और ईश्वर भिन्न हैं-

(क) 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (त० ब्रा० ७) यह उपनिषद् का वचन है। जीव और ब्रह्म भिन्न हैं, क्योंकि इन दोनों का भेद प्रतिपादन किया गया है। जो ऐसा

न होता तो रस अर्थात् आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर जीव आनन्दस्वरूप होता है, ऐसा न कहते।

(ख) 'गुहां प्रविष्टौ सुकृतस्य लोके' (कठ० ३.१) इत्यादि उपनिषद् के वचनों से जीव और परमात्मा भिन्न हैं।

(ग) 'शरीरे भवः शारीरः' शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के गुण, कर्म, स्वभाव जीव में नहीं घटते।

७. शङ्करमतानुयायी जगत् को मिथ्या मानते हैं, परन्तु महर्षि दयानन्द इसका जोरदार खण्डन करते हैं–

"जगत् को मिथ्या मानने में जगत् की ... परस्पर प्रीति और विश्वासादि गुणों की प्राप्ति करने में पुरुषार्थ और श्रद्धा अत्यन्त नष्ट होने से जगत् के जितने उत्तम कार्य हैं, वे सब नष्ट–भ्रष्ट हो जाते हैं।"

सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।

–छान्दोग्य० ६.८.४

इस उपनिषद् वाक्य से भी स्पष्ट है कि जगत् मिथ्या नहीं है।

परमात्मा एक अङ्ग से संसार में व्यापक है। एक अङ्ग क्या है। इसका उत्तर हमें वेद से ही प्राप्त हो जाता है–

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

–यजुः० ३१.३

एतावान्–यह सम्पूर्ण दृश्य ब्रह्माण्ड उस पूर्णपुरुष की महिमा, गौरव, बड़प्पन को प्रकाशित करनेवाला है। पूर्णपुरुष, परमात्मा इस संसार से बहुत बड़ा है। सम्पूर्ण उत्पन्न होनेवाला संसार उसका एक पाद=अंश है। उसके तीन पाद तो उसकी प्रकाशमयी, तेजोमयी सत्ता में ही रहते हैं।

परमेश्वर इस ब्रह्माण्ड से बहुत बड़ा है। यह विस्तृत संसार जिसका भेद वैज्ञानिक अब तक भी नहीं जान पाये हैं, उस प्रभु की महिमा को द्योतित करता है, परमात्मा तो इससे कहीं अधिक महान् है। इस प्रभु के तीन पाद तो उसके अपने ही स्वरूप में स्थित हैं! उन पादों तक पहुँचना तो दूर उनकी झलक तक पाना, अनुभवमात्र हो जाना भी अनेक जन्म-जन्मान्तरों की योग-साधना के पश्चात् करोड़ों, अरबों मानवों में से किसी-किसी को हो पाता है। ऐसे मानव चिरकाल तक मुक्ति-सुख का आनन्द भोगते हैं।

परमात्मा की महिमा और महत्ता को यजुर्वेद के निम्न मन्त्र में भी अत्यन्त सुन्दर रीति से प्रकट किया गया है-

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

—यजुः० ४०.४

परमात्मा निश्चंल, परिमाणरहित, एक, अद्वितीय और मन से भी वेगवान् है। सूर्य आदि देव इसको नहीं पहुँच सकते, क्योंकि वह पहले से ही सर्वत्र विद्यमान है। वह परमात्मा ठहरा हुआ ही निरन्तर दौड़नेवाले ग्रह-उपग्रह और नक्षत्रों को भी लाँघ जाता है [कारण ये ग्रह तो कहीं चलकर पहुँचते हैं, परन्तु प्रभु तो पहले से ही वहाँ पहुँचा हुआ है]। उस परमात्मा के आश्रय से ही वायु जलों को धारण करता है और जीव कर्मों को करता है।

'सद्यः पर्य्येमि..... एकेनाङ्गेन' की कैसी अनुपम व्याख्या है! यह संसार सावयव और सान्त है। परमात्मा निरवयव और अनन्त है, अतः यह संसार तो उसके एक अंश में ही रहेगा, इसीलिए परमात्मा इस संसार में सदा व्यापक रहते हैं।

परमात्मा सृष्टि में रहता हुआ भी सृष्टि से शेष

है—अतिरिक्त है। वह प्रभु सर्वव्यापक है, कण-कण में विद्यमान है। उसकी व्यापकता को समझो। वेद ने प्रभु की सर्वव्यापकता का कैसा सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है—

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥
उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥
उत यो द्यामति सर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥
सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात्।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी निमिनोति तानि ॥
—अथर्व० ४.१६.२—५

जो मनुष्य ठहरा हुआ है, जो चलता है और जो मनुष्य दूसरे को धोखा देता है, ठगता है., जो छिपकर चोरी आदि करता है और जो प्रकट होकर डाका डालता है, प्रभु इन सबको भली प्रकार देखता है। इतना ही नहीं दो व्यक्ति एक साथ बैठकर जो गुप्त मन्त्रणा करते हैं, सबका शासक सर्वद्रष्टा परमात्मा उन दोनों के साथ होकर उनके गुप्त रहस्यों को जानता है।

और तो और यह भूमि सबके पालक, पोषक और रक्षक प्रभु की ही है। इतना ही नहीं, दूर और समीप सर्वत्र व्यापक यह विशाल द्युलोक भी प्रभु के ही शासन में है तथा पूर्व और पश्चिम समुद्र अथवा पृथिवी-समुद्र और आकाश-समुद्र वरुणरूप परमात्मा की दो कुक्षियाँ हैं और सबसे अद्भुत बात तो यह है कि वह परमात्मा पानी की छोटी-सी बिन्दु में भी विद्यमान है।

जो कोई जीव विशाल द्युलोक को भी पार करके और भी दूर पहुँच जाए वह भी परमात्मा के शासन से, उसकी न्याय-व्यवस्था से मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि इस दिव्य-देव के दूत इस संसार में सर्वत्र विचरते हैं, जो सहस्त्रों आँखोंवाले (अत्यन्त सावधान) होकर इस भूमि को विशेषरूप से देखते हैं।

सबका शासक परमात्मा सूर्य और भूमि के मध्य जो कुछ है, और जो कुछ इनसे परे है उस सबको विशेषरूप से देखता है। उसने तो मनुष्यों की पलकों की झपकों तक को गिन रक्खा है। जिस प्रकार श्वघ्नी=अपने दोषों को समाप्त करनेवाला शुद्ध, पवित्र और निर्मल आत्मा अक्षान्=इन्द्रियों को वश में रखता है इसी प्रकार परमात्मा भी सब लोकों को नाप-जोखकर वश में रखता है।

यदि मनुष्य ईश्वर की इस सर्वव्यापकता को समझ ले तो वह पाप नहीं कर सकता। मनुष्य पाप उस समय करता है जब वह समझता है कि कोई मुझे देख नहीं रहा है। यदि हम प्रभु को सदा अङ्ग-सङ्ग मानें तो हम पाप कर ही नहीं सकते। इसी रहस्य को समझकर तो वाल्टेयर महोदय ने कहा था—

If God did not exist, it would be necessary to invent Him.

अर्थात् यदि ईश्वर का अस्तित्व न होता तो उसके आविष्कार की आवश्यकता होती।

आओ, हम प्रभु की व्यापकता का पूर्ण बोध प्राप्त करें, जिससे हमारी पाप करने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाए।

केष्वन्तः पुरुषऽआ विवेश कान्यन्तः पुरुषेऽअर्पितानि।
एतद् ब्रह्मन्नुप वल्हामसि त्वा किंस्विन्नः प्रति वोचास्यत्र॥
पञ्चस्वन्तः पुरुषऽआ विवेश तान्यन्तः पुरुषेऽअर्पितानि।
एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानोऽअस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत्॥
—यजुः० २३.५१, ५२

प्रश्न—हे (ब्रह्मन्) वेदज्ञ विद्वन् अथवा साक्षात् ब्रह्म! (केषु+अन्तः) किनमें (पुरुषः) पुरुष, सर्वत्र पूर्ण परमेश्वर (आ+विवेश) आविष्ट है, समाया हुआ है? और (कानि) कौन (पुरुषे अन्तः) पुरुष में अथवा पुरुष के लिए (अर्पितानि) अर्पित हैं। (एतत्) यह (त्वा) तुझसे (उप) समीप आकर (वल्हामसि) प्रश्न करते हैं। (अत्र) इस विषय में (नः) हमें (किम्) क्या (प्रतिवोचासि) प्रत्युत्तर देते हो?

उत्तर—(पुरुषः) पुरुष (पञ्चसु+अन्तः) पाँच में (आविवेश) आविष्ट है, समाया हुआ है। (तानि) वे ही पाँच (पुरुषे अन्तः) पुरुष में, या पुरुष के लिए (अर्पितानि) अर्पित हैं। (त्वा) तुझको (अत्र) इस विषय में (एतत्) यह (प्रतिमन्वानः अस्मि) प्रत्यक्ष जानता हुआ प्रत्युत्तर देता हूँ, समाधान करता हूँ। (मायया) उत्तम बुद्धि से युक्त तू (मत्) मुझसे (उत्तरः) उत्कृष्ट (न भवसि) नहीं है।

यहाँ दो प्रश्न हैं। १. पुरुष किन में आविष्ट है? और २. पुरुष में कौन अर्पित हैं? उत्तर है—१. पुरुष पाँच में आविष्ट है और २. वे पाँच पुरुष में अर्पित हैं।

इस प्रश्नोत्तर के रहस्य को जानने के लिए 'पुरुष' शब्द

का अर्थ बतलानेवाले मन्त्र ये हैं–

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३। पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥

—अथर्व० १०.२.२८–३०

पुरुष ऊपर नीचे, दाएँ–बाएँ सर्वत्र सृष्टि–रचना करता है, वह सब दिशाओं में व्यापक है। अथवा कर्मानुसार पुरुष उत्तम गतिवाला भी बनता है और निम्न योनियों को भी प्राप्त होता है; अर्थात् पुरुष सब दशाओं में आता है। इसी कारण यह पुरुष कहलाता है। जो इस ब्रह्म की पुरी को जानता है, वह उत्तम अवस्था को प्राप्त होता है।

जो ब्रह्म की परमानन्द से परिपूर्ण अथवा अनन्त जीवन से युक्त पुरी को जान लेता है, उसके लिए परमात्मा और ब्राह्म=परमात्मा के उपासक देखने के लिए इन्द्रियाँ, जीवन और सन्तान प्रदान करते हैं।

जो ब्रह्म की उस पुरी को, जिसका अध्यक्ष पुरुष कहा जाता है, जान लेता है, उसे चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ और प्राण=जीवन शक्ति बुढ़ापे से पूर्व नहीं छोड़ते। जो मनुष्य ईश्वर के दर्शन कर लेते हैं, उनकी सभी इन्द्रियाँ सशक्त बनी रहती हैं।

इन मन्त्रों का मनन करने से प्रतीत होता है कि वेद की परिभाषा में पुरुष का अर्थ जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही है। वेद में अन्यत्र पुरुष शब्द जीवात्मा के लिए भी प्रयुक्त

हुआ है—

तस्माद्वै विद्वान्पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठइवासते ॥

—अथर्व० ११.८.३२

इसीलिए विद्वान् लोग इस पुरुष को साक्षात् ब्रह्म करके जानते हैं, क्योंकि इस पुरुष में समस्त दिव्य—शक्तियाँ इसी प्रकार विराजमान हैं, जिस प्रकार बाड़े में गाएँ आ बैठती हैं।

कदाचित् इन्हीं मन्त्रों के अभिप्राय को हृदय में रख पुरुष शब्द की निरुक्ति करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं—

पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन्। —नि० १.१३.१

पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा।

पूरयन्त्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य॥ —नि० २.३.१

पुर=शरीर अथवा संसार में रहनेवाले को पुरुष कहते हैं। 'पुर+सद्' अथवा 'पुर्+शी' इस प्रकार पुरुष शब्द निष्पन्न होता है। 'पृ धातु' जिसका अर्थ पूरण करना है, उससे भी यह शब्द सिद्ध होता है। अन्तरपुरुष के अभिप्रायः से 'पूरयत्यन्तः' निरुक्ति होती है। इस अन्तरपुरुष अर्थ में निरुक्तकार ने निम्न प्रमाण भी उद्धृत किया है—

यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्,
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः,
तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥

—श्वेता० ३.९

जिससे श्रेष्ठ और जिसके समान दूसरी कोई वस्तु नहीं है, जिससे न कोई भी महान् है और न ही सूक्ष्म है, जो वृक्ष की भाँति निश्चल हुआ अपने प्रकाश में सदा स्थिर रहता है

उस पुरुष से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, वह सर्वत्र विराजमान है। वृक्ष, पत्र, पुष्प, फल, शाखा आदि को धारण करता है, पत्रादि गिरते रहते हैं, नये उत्पन्न होते रहते हैं, इनकी अपेक्षा वृक्ष निश्चल है। इसी प्रकार सृष्टि में नाना पदार्थ बनते और बिगड़ते रहते हैं, परन्तु परमात्मा निश्चल रहता है। भाव यह है विकारवान् संसार का आश्रय होता हुआ भी परमात्मा अविकारी है।

पुरुष शब्द की विवेचना के पश्चात् अब प्रश्नोत्तरों पर आइए। पुरुष का अर्थ यदि परमात्मा लें तो उत्तरों का आशय यह होगा–१. पुरुष=परमात्मा पाँच में व्यापक है और २. पाँच पुरुष में रहते हैं।

परमात्मा पक्ष में पाँच से तात्पर्य है–पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश–पञ्चमहाभूत। ये पाँच महाभूत ही सृष्टि का उपादानकारण हैं। सृष्टि न कहकर पाँच महाभूत कहने में भी एक रहस्य है। पाँचभूत स्थूल और सूक्ष्म अर्थात् कारण और कार्य दोनों प्रकार के होते हैं। प्रस्तुत मन्त्र बताता है कि परमात्मा स्थूल–सूक्ष्म अथवा कारण–कार्य सबमें व्यापक है। इतना ही नहीं, ये सारे भूत उसी ईश्वर में समाये हुए हैं। अन्यत्र भी इस बात को प्रकट किया गया है–

स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु। –यजुः० ३२.८

वह प्रभु समस्त प्रजाओं में ताने और बाने की भाँति ओत–प्रोत है।

यजुर्वेदीय ईशोपनिषद् में भी इसी रहस्य को प्रकट किया गया है–

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।

–यजुः० ४०.५

परमात्मा सबके अन्दर भी है और बाहर भी है। वह

सबमें व्यापक होकर भी इस ब्रह्माण्ड से अतिरिक्त है।

यदि पुरुष का अर्थ जीवात्मा लें तो मन्त्र का भाव यह होगा—१. पुरुष=जीव पाँच में प्रविष्ट है और २. पाँच पुरुष के अर्पित हैं।

प्रत्येक मनुष्य केवल अपने में ही स्थित नहीं है, वह अन्य चार में भी स्थित है। प्रत्येक मनुष्य पाँच लोकों में प्रविष्ट है। वे लोक ये हैं—१. व्यक्तिलोक, २. परिवारलोक, ३. समाजलोक, ४. राष्ट्रलोक और ५. विश्वलोक। प्रत्येक व्यक्ति अपने-आपमें एक इकाई है। किसी परिवार का वह अङ्ग है, किसी समाज का वह सभ्य है, किसी राष्ट्र का वह नागरिक है, और इस विश्वसदन का वह सदस्य है।

सुख, शान्ति और मानवमात्र का कल्याण चाहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने इन लोकों को पवित्र बनाना चाहिए तभी सुधार हो सकता है। प्रत्येक मानव को अपने व्यक्तित्व से अपने परिवार समाज; राष्ट्र और विश्व के प्रति अपने कर्त्तव्यों का ईमानदारी से पालन करना चाहिए। ऐसा सम्भव तभी होगा जब हम अपने जीवनों में पाँच प्रकार का शील सम्पादन करें। आइए, तनिक इन लोकों में भ्रमण कर लें।

व्यक्तिलोक—अपने जीवन का सुधार करो। देखो हमारे जीवन में क्या कमियाँ और त्रुटियाँ हैं। क्या हम पूर्ण ईमानदार हैं? क्या हम अपने कर्त्तव्यों का ठीक पालन करते हैं? हम झूठ तो नहीं बोलते? दम्भ तो नहीं करते? दूसरों को ठगने की प्रवृत्ति तो हमारे जीवन में नहीं है? हमारे मन, वचन और कर्म में एकरूपता तो है? ऐसा तो नहीं है कि हम मन में कुछ सोचते हों, वाणी से कुछ कहते हों और कर्म कुछ और ही करते हों? क्या हमारा चिन्तन पवित्र है? क्या हम कभी अपने देश के विषय में भी विचार करते हैं? हम

बड़ों का सत्कार, बराबरवालों से मित्रता और छोटों से स्नेह करते हैं या नहीं? दीन-दु:खी, निर्बल और दुर्बलों की सहायता में तत्पर रहते हैं या नहीं। प्रतिदिन ईश्वर की उपासना करते हैं या नहीं? इस प्रकार प्रतिदिन अपने जीवन का निरीक्षण करते हुए हम अपने दोषों को दूरकर अपने व्यक्तिलोक=व्यक्तिगत जीवन को पवित्र बनाने का प्रयत्न करें।

कुछ लोगों का विचार है कि व्यक्तिगत जीवन और सार्वजनिक जीवन एक-दूसरे से सर्वथा असम्बद्ध है। यह धारणा अत्यन्त भ्रामक है। व्यक्तिगत जीवन का प्रभाव पारिवारिक और सार्वजनिक जीवन पर पड़े बिना नहीं रह सकता। यदि कोई व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन में आलसी और प्रमादी है तो वह सार्वजनिक कार्यों में भी आलस्य और प्रमाद करेगा, अतः व्यक्तिलोक और अन्य लोकों के निर्माण के लिए हमें व्यक्तिलोक को दिव्य और महान् बनाना चाहिए। हमारे विचारों में उदारता और महत्ता हो। हमारी दृष्टि सुदृष्टि हो। **'भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः'** (यजु:० २५.२०) यज्ञमय जीवनवाले हम आँखों से सदा भद्र ही देखें। हम सत्य, प्रिय, हितकर और मधुर बोलें। हमारे जीवन का आदर्श हो **'यद् वदामि मधुमत्तद् वदामि।'** (अ० १२.१.५८) मैं जो कुछ बोलूँ मीठा बोलूँ। हमारे जीवन स्नेह से पूरित हों। हम पाप से घृणा करें, परन्तु पापी से प्यार करें। वेद के शब्दों में हम कह सकें— **'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।'** (यजु:० ३६.१८) मैं संसार के सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। हमारे हृदय में सेवा और परोपकार की भावना हो। हमारा जीवन नियमित और संयमित हो। यह है व्यक्तिलोक का आदर्श!

परिवारलोक—यह लोक तभी पवित्र बन सकता है जब व्यक्तिलोक पवित्र हो, क्योंकि वैयक्तिक जीवन ही अन्य सब लोकों का मूलाधार है। परिवार के संस्कार और सुधार के लिए स्वयं आदर्श बनना चाहिए। घर का जैसा वातावरण होगा बच्चे वैसे ही बनेंगे, क्योंकि वे तो अनुकरण करते हैं। परिवारलोक को समुन्नत बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हम परिवार के सभी सदस्यों की शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति में सहयोग दें। प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उसके कारण किसी दूसरे व्यक्ति को कोई कष्ट न हो। सदा स्मरण रखिए कि परिवार में ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, मन-मुटाव और बोलचाल बन्द करने के लिए कोई स्थान नहीं है। सभी पारिवारिक जनों के हृदय प्रेम से पूरित हों और जीवन स्नेह से ओत-प्रोत। वेद के शब्दों में वे कह सकें—'घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।' (ऋ० ३.२६.७) मेरी आँखों में स्नेह और वाणी में माधुर्य है।

वेद के शब्दों में पारिवारिक जनों का व्यवहार इस प्रकार का होना चाहिए—

> **अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।**
> **जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान्॥**
> **मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।**
> **सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥**
>
> —अथर्व० ३.३०.२,३

पुत्र पिता के व्रतों का अनुवर्तन करनेवाला और माता के साथ एक मनवाला हो। पत्नी पति के प्रति वाणी को बोले और शान्तिशील पति भी पत्नी के साथ मीठी वाणी बोले।

भाई-भाई से, बहिन-बहिन से और भाई-बहिन से द्वेष न करे। एक गति और मतिवाले, एक उद्देश्यवाले होकर भली रीति से वाणी को बोलें।

परिवार के सभी सदस्यों को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि गृह सुख और शान्ति का केन्द्र बन जाए। वहाँ हर्ष, उल्लास, आनन्द और उत्साह की तरंगें उठती हों। घर का वातावरण पवित्रता और प्रसन्नता से पूरित हो।

समाजलोक—व्यक्ति और परिवार के समूह का नाम ही समाज है। वैयक्तिक और पारिवारिक शील से सम्पन्न व्यक्तियों से निर्मित समाज निश्चय ही आदर्श समाज बन सकता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के बिना मनुष्य रह नहीं सकता, अतः प्रत्येक मनुष्य को समाजिक सर्वहितकारी नियम पालन करने के लिए कटिबद्ध रहना चाहिए। महर्षि पतञ्जलि ने अष्टाङ्ग-योग में 'यम' को प्रथम स्थान प्रदान किया है। विचार करने पर प्रतीत होता है कि यम सामाजिक शील का प्रतिपादन करता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच बातें यम में समाविष्ट हैं।

समाज में रहते हुए हमें किसी भी प्राणी के प्रति हिंसा-वैर विरोध की भावना नहीं रखनी चाहिए। हमें प्रयत्न करना चाहिए कि हमारे कारण किसी भी प्राणी को अकारण कष्ट, हानि और असुविधा न हो। सार्वजनिक मार्गों और स्थानों पर कूड़ा-कर्कट डालना, मल-मूत्र के द्वारा गन्दगी फैलाना, अथवा किसी प्रकार की बाधा उपस्थित करना सामाजिक हिंसा है। समय देकर सभा में न पहुँचना हिंसा है। सभा में काना-फूँसी करना, आपस में बात-चीत करना और बीच में उठकर चल देना सामाजिक हिंसा है। कम तोलना, बढ़िया नमूना दिखाकर घटिया माल देना, घूँसखोरी, चोर-बाजारी

आदि सामाजिक हिंसा या दुश्चरित्र है। प्रत्येक नागरिक को ऐसे कार्यों से बचना चाहिए।

सामाजिक शील का दूसरा अङ्ग सत्य है। सामाजिक व्यवहार और व्यापार में हमें सत्य का, सत्यवचन का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। आप एक बार जो वचन दे दें उसका प्राणपण से पालन करना चाहिए। अपने वचन से फिर जाना सामाजिक दुश्चरित्र है। बिक्री की वस्तुओं का मूल्य अधिक बताकर कम दामों पर दे-देना भी सामाजिक असत्य है। किसी को रुपया, चेक अथवा हुण्डी देने का वादा करके उस दिन न देना भी सामाजिक असत्याचार है। सामाजिक कदाचार से बचकर हमें अपने-आपको आदर्श बनाना चाहिए।

सामाजिक शील का तीसरा अङ्ग अस्तेय=चोरी न करना है। स्वामी की बिना आज्ञा के वस्तु उठा लेना या उसका उपभोग करना चोरी है। यदि मार्ग में हमें कोई वस्तु पड़ी मिल जाए तो हमें स्वयं उसका स्वामी नहीं बन जाना चाहिए। हमें उस वस्तु के स्वामी को खोजना चाहिए अन्यथा पुलिस को दे देना चाहिए। कम नापना, घटिया वस्तु देना, बिना टिकट रेल और बसों में यात्रा करना, रिश्वत लेना और देना, व्यापार में धोखा देना चोरी है। सब प्रकार की चोरियों से दूर रहना चाहिए।

सामाजिक शील का चौथा अङ्ग है ब्रह्मचर्य। सामाजिक जीवन में पत्नी को पतिव्रता और पति को पत्नीव्रती होना चाहिए। पुरुष को अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों में माता, बहिन और पुत्री की भावना रखनी चाहिए। स्त्री को पर-पुरुषों में पिता, भाई और पुत्र की भावना रखनी चाहिए। पर-पुरुष अथवा पर-स्त्री को कुदृष्टि से देखना, उनके साथ अश्लील चेष्टा या वार्त्तालाप करना, उनका अपहरण करना

अथवा अनके साथ बालात्कार करना—यह सामाजिक पाप है। प्रत्येक नागरिक को अपने-आपको इस प्रकार के पापों से पृथक् रखना चाहिए।

सामाजिक शील का पाँचवाँ अङ्ग है अपरिग्रह। अन्धाधुन्ध वस्तुओं को इधर-उधर से बटोरकर अपना घर भर लेना, न स्वयं उनका उपभोग करना न दूसरों को करने देना परिग्रह है। हमें वस्तुओं का बहुत अधिक संग्रह नहीं करना चाहिए। अधिक धन संग्रह होने पर लोकहित के कार्यों में दान देकर धन का सदुपयोग करना चाहिए।

राष्ट्रलोक—राष्ट्रलोक का मूलाधार है राष्ट्र-निष्ठा। प्रत्येक व्यक्ति की अपने देश के प्रति निष्ठा होनी चाहिए। प्रत्येक नागरिक को चाहिए कि वह अपने राष्ट्र की सुरक्षा के लिए सदा सावधान और जागरूक रहे। वेद के शब्दों में हम कह सकें—'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः।' (यजुः० ९.२३) हम अगुवा बनकर अपने राष्ट्र में सदा सावधान और सतर्क रहें। इतना ही नहीं हमारी तो यह भावना और कामना होनी चाहिए—'वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम॥' (अथर्व० १२.१.६२) हे मातृभूमे! हम तेरे ऊपर तन, मन, धन सब- कुछ न्यौछावर करनेवाले हों। चारपाई पर पड़कर रोग और भोग में ग्रस्त होकर एड़ी रगड़ते-रगड़ते शरीर त्याग की अपेक्षा देश के लिए बलिदान हो जाना अधिक श्रेयस्कर है। धन्य है वह जीवन जो देश के लिए अपने को बलिदान कर देता है।

प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह किसान है अथवा श्रमिक, व्यापारी है या कर्मचारी, आफीसर है या मिनिस्टर अपने समय को व्यर्थ न खोते हुए ईमानदारी के साथ अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए।

विश्वलोकः—विश्वलोक की आधारशिला है अन्तर्राष्ट्रीय

व्यवहार। एक राष्ट्र का निवासी जब दूसरे राष्ट्र में भ्रमण करे तो उसे प्रतिक्षण यह ध्यान रखना चाहिए कि उसकी प्रत्येक चेष्टा और गतिविधि से उसके राष्ट्र का सुयश अथवा अपयश होता है। दूसरे राष्ट्र में पहुँचकर प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा शालीन और पवित्र व्यवहार करना चाहिए कि उसके देश का गौरव बढ़े, घटे नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए। पर-राष्ट्र में विचरण करते हुए वहाँ की देवियों को माता के समान और धन को मिट्टी के समान समझना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इस प्रकार की हो कि उसमें किसी का शोषण न हो। सभी राष्ट्रों में प्रेम की भावना ओत-प्रोत हो। सभी राष्ट्र परस्पर एक-दूसरे की सहायता करें, एक-दूसरे के अभावों की पूर्त्ति करें और दूसरे की उन्नति में पूर्ण सहयोग प्रदान करें।

यह तो मन्त्र की भौतिक=समाजपरक व्याख्या हुई। हमें तो आध्यात्मिक व्याख्या करनी है, अतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि पुरुष=जीवात्मा किन पाँच में रहता है? उत्तर है जीवात्मा पाँच कोशों में रहता हैं। जीवात्मा उन कोशों में रहते हुए भी उनसे पृथक् है। वे पाँच कोश निम्नलिखित हैं–

१. अन्नमयकोश २. प्राणमयकोश ३. मनोमयकोश ४. विज्ञानमयकोश और ५. आनन्दमयकोश।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण–तीन शरीरों में प्रत्येक क्रम से एक एक के भीतर है। इन तीनों शरीरों में पाँच कोश हैं। शरीर और कोश एक ही वस्तु है। कोश म्यान का नाम है। जैसे तलवार म्यान में रहती है, म्यान तलवार को ढकनेवाला है, इसी प्रकार कोश आत्मा को ढकनेवाले हैं। कोश नाम भण्डार का भी है, जैसे भण्डार में धन रहता है, भण्डार धन

को ढकता है, उसी प्रकार कोश आत्मा को ढकते हैं। कोशकार एक कीड़े का नाम है, उसके रहने के स्थान को कोश कहते हैं। जैसे घर उस जन्तु को ढकता है, ऐसे ही कोश आत्मा को ढकते हैं।

स्थूलशरीर को अन्नमयकोश कहते हैं। प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय–ये तीन कोश सूक्ष्मशरीर कहलाते हैं और कारणशरीर आनन्दमय- कोश को कहते हैं। स्थूलशरीर के भीतर सूक्ष्मशरीर और सूक्ष्मशरीर के भीतर कारणशरीर है। इसी प्रकार पाँच कोशों में भी प्रत्येक क्रमशः अगला कोश पहले से सूक्ष्म है। अन्नमय कोश के भीतर प्राणमय, प्राणमय के अन्दर मनोमय, मनोमय में विज्ञानमय और विज्ञानमय के भीतर आनन्दमयकोश है।

अन्नमयकोश–त्वचा, मांस, रक्त, हड्डी और विष्ठा का समुदाय अन्नमयकोश है। यह माता-पिता द्वारा खाये अन्न से बने हुए रसरूप पिता के वीर्य और माता के रज से माता के उदर में उत्पन्न होता है। उत्पन्न होकर कुछ दिन माता के दूधरूप अन्न से फिर प्रत्यक्ष अन्न से वृद्धि को प्राप्त होता है और अन्त में अन्नरूप पृथिवी में मिल जाता है। अन्नमयकोश दृश्य है, सुख-दुःख भोगने का स्थानरूप है, इसकी उत्पत्ति, वृद्धि और क्षय देखने में आते हैं। यह विकारी है, अतः यह आत्मा नहीं है। अन्नमयकोश जड़ है और आत्मा चेतन। अन्नमयकोश हाथ, पैर, मस्तक आदि अङ्ग, उपाङ्गसहित है, परन्तु आत्मा अवयवरहित है। शरीर मरणधर्मा है और आत्मा अमर है। शरीर तीन गुणोंवाला है और आत्मा गुणातीत है। इस प्रकार दोनों की विलक्षणता होने से शरीर आत्मा नहीं है।

प्राणमयकोश–प्राणमयकोश प्राणों का समुदायरूप है। प्राणमयकोश के साथ पाँच प्राण और पाँच उपप्राणों का

अङ्गाङ्गी भाव है। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ये पाँच प्राण हैं। 'प्राण' जो भीतर से बाहर आता है, 'अपान' जो बाहर से भीतर जाता है। 'समान' यह नाभिस्थ होकर शरीर में सर्वत्र रस पहुँचाता है। 'उदान' इससे कण्ठस्थ अन्न-पान खेंचा जाता और बल, पराक्रम होता है। 'व्यान' इससे जीव शरीर में चेष्टा आदि कर्म करता है।

देवदत्त, कृकल, कूर्म, नाग और धनञ्जय—ये पाँच उपप्राण हैं। 'देवदत्त' यह नासिका स्थानीय है और छींक लाता है। 'कृकल' यह कण्ठ स्थानीय है, जृम्भा=जम्हाई लाता है और क्षुधा-तृषा उत्पन्न करता है। 'कूर्म' नेत्र-पलकों में रहता है तथा पलकों के झपकाने का कार्य करता है। 'नाग' यह मुख स्थानीय है, डकार और हिचकी लाना इसी का कार्य है। 'धनञ्जय' यह समस्त देहव्यापी है। मृत्यु के पश्चात् और जीवनकाल में भी शोथ उत्पन्न करना इसी का व्यापार है। गमनागमन में सहायक और शरीर का पोषक भी है।

प्राणमयकोश आत्मा नहीं है। प्राणमयकोश दृश्य है और आत्मा द्रष्टा, प्राणमयकोश विकारी है और आत्मा अविकारी, प्राण अबोधरूप है और आत्मा बोधरूप, प्राण रजोगुणवाला है और आत्मा गुणातीत, प्राण जड़ है और आत्मा चेतन। ऐसे विरुद्ध गुणोंवाला प्राणमयकोश आत्मा कैसे हो सकता है?

मनोमयकोश—जिसमें मन के साथ अहङ्कार तथा वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, उसे मनोमयकोश कहते हैं। मन जड़ है, अतः यह भी आत्मा नहीं है।

विज्ञानमयकोश—जिसमें बुद्धि, चित्त, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, वह विज्ञानमय

कोश है। इस कोश की जाग्रत् और स्वप्न अवस्था है। आत्मा के समीप होने से यह प्रकाशवाला है। यह भी जड़ है तो भी आत्मा के मेल से वह विशेष चैतन्य-सा लगता है।

आनन्दमयकोश–जिसमें प्रीति, प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिक आनन्द और आधार कारणरूप प्रकृति है। चारों कोशों के आनन्द की अपेक्षा इसमें अधिक आनन्द है, अतः यह आनन्दमयकोश कहलाता है। यह कोश भी आत्मा नहीं, अपितु आत्मा का घर है उसका निवास-स्थान है। आत्मा इससे पृथक् है।

इन पाँच कोशों के आधार से ही जीव सब प्रकार के कर्म, उपासना और ज्ञान आदि व्यवहारों को करता है। पाठकगण! जीवात्मा इनसे पृथक् है। वह इन पाँचों के अन्दर प्रविष्ट है। इन कोशों को=पर्दों को दूर कर दो तो आत्म-साक्षात्कार हो जाता है।

पाँच का तात्पर्य पाँच प्राण भी हो सकते हैं जैसाकि मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है–

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां,
यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥

–मु० ३.१.९

यह पूर्वोक्त जीवात्मा चिन्तन से जाना जा सकता है। इसमें प्राण पाँच प्रकार से प्रविष्ट हुआ है। सब प्राणियों का चित्त प्राणों से ओत-प्रोत है, जिसके शुद्ध होने पर यह आत्मा देदीप्यमान हो जाता है।

वेद में इसी तथ्य को यूँ वर्णित किया गया है–

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्त्रोतसः।
सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत्सरित्॥

—यजुः० ३४.११

स्त्रोतोंसहित पाँच नदियाँ=इन्द्रियाँ सरस्वती=ज्ञानस्वरूप आत्मा को प्राप्त हो रही हैं और वह सरस्वती=आत्मा भी शरीररूपी देश में पाँच प्रकार की सरित्=गतिवाला हो गया है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर से ज्ञान लाकर आत्मा को देती हैं और आत्मा इस शरीर में इन्द्रियों द्वारा अपना प्रकाश करता है। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ जब वश में आ जाती हैं तब मोक्ष प्राप्त हो जाता है जैसाकि कठोपनिषद् में कहा है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥

—कठ ६.१०

जब मनसहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने व्यापार से विरत होकर निश्चल हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उसे परमगति कहते हैं।

यदि आत्मदर्शन और ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा है तो पाँच कोशों का विवेक करो, प्राण की साधना करो और इन्द्रियों को वश में करो। यही इस प्रश्नोत्तर का सन्देश है।

[५]

का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किंस्विदासीद् बृहद्वयः।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला॥
द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्वऽआसीद् बृहद्वयः।
अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशङ्गिला॥

—यजुः० २३.५३-५४

प्रश्न— १. (पूर्वचित्तिः) प्रथम चयन (का+स्विद्) क्या (आसीत्) था, होता है?

२. (बृहत् वयः) सबसे बड़ा उत्पन्न पदार्थ (किं+स्वित्) कौन-सा (आसीत्) होता है?

३. (पिलिप्पिला) पिलिप्पिला (का+स्वित्) कौन-सी वस्तु (आसीत्) होती है?

४. (पिशङ्गिला) अवयवों को भीतर करनेवाली, रूपों को निगलनेवाली वस्तु (का+स्वित्) कौन-सी (आसीत्) होती है?

उत्तर— १. (द्यौः) द्यौ=विद्युत् (पूर्वचित्तिः) प्रथम चयन=पहला कार्य (आसीत्) होता है।

२. (अश्वः) महत्तत्त्व (बृहत्) महान् (वयः) उत्पन्न पदार्थ (आसीत्) है।

३. (अविः) प्रकृति (पिलिप्पिला) पिलपिली=चिकनी (आसीत्) होती है।

४. (रात्रिः) रात्रि के समान प्रलय (पिशङ्गिला) सब अवयवों को निगलनेवाली (आसीत्) है।

यहाँ प्रथम मन्त्र में चार प्रश्न हैं और दूसरे मन्त्र में उनके उत्तर। ये चारों प्रश्नोत्तर सृष्टि-विद्या-विषयक हैं। ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व साधक का विवेक, वैराग्य, षट्कसम्पत्ति

और मुमुक्षुत्व रूप साधन-चतुष्टय से युक्त एवं सम्पन्न होना आवश्यक है। प्रसङ्गवश यहाँ साधन-चतुष्टय की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत है-

विवेकः-सत्यासत्य, धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, विद्याविद्या, ज्ञानाज्ञान, नित्यानित्य के ज्ञान का नाम विवेक है। पूर्व मन्त्रोक्त पाँच कोश और आत्मा को पृथक् जानना भी विवेक के अन्तर्गत है। जीव पाँच कोशों, तीन शरीर और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चार अवस्थाओं से पृथक् है। जो जीव को कर्त्ता, धर्त्ता, भोक्ता समझता है, वह विवेकी और जो जीव को कर्त्ता, भोक्ता नहीं समझता वह अविवेकी है। जब इन्द्रियाँ अर्थों में, मन इन्द्रियों में और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरित करके अच्छे वा बुरे कार्यों में लगाता है उस समय उत्तम कर्मों के करने में भीतर से आनन्द, उत्साह और निर्भयता तथा बुरे कामों में भय, शङ्का और लज्जा उत्पन्न होती है, वह सर्वान्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा होती है। जो मनुष्य उस शिक्षा के अनुसार आचरण करता है वह मोक्षजन्य सुखों को प्राप्त होता है और जो विपरीत वर्त्तता है वह बन्धजन्य दुःखों को भोगता है।

वैराग्य-वैराग्य का अर्थ कपड़े रङ्गकर साधु हो जाना नहीं है, जैसा कुछ लोग समझते हैं। विवेक से सत्यासत्य का जो ज्ञान होता है उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण के त्याग का नाम वैराग्य है। पृथिवी से लेकर परमेश्वरपर्यन्त पदार्थों के गुण, कर्म, स्वभाव को जानकर ईश्वर की आज्ञा पालन और उपासना में तत्पर होना, उसकी आज्ञा के विरुद्ध न चलना और सृष्टि से उपकार लेने का नाम भी वैराग्य है। लोक और परलोक के भोगों की इच्छा

के त्याग का नाम भी वैराग्य है। विषयों में आसक्ति का नाम राग और अनासक्ति का नाम वैराग्य है। मोक्ष के साधनों का निर्देश करते हुए वृद्ध चाणक्य कहते हैं–

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान्विषवत्त्यज।
क्षमार्जवं दयां शौचं सत्यं पीयूषवत्पिब॥

–चा० नी० ९.१

हें तात! यदि मुक्ति पाने की इच्छा है तो विषयों को विष के समान समझकर छोड़ दो तथा क्षमा, सरलता, दया, पवित्रता और सत्य का अमृत के समान पान करो।

षट्कसम्पत्ति–छह प्रकार के कर्मों का नाम षट्कसम्पत्ति है। 'शम' अपने आत्मा और अन्तःकरण को अधर्माचरण से हटाकर सदा धर्माचरण में प्रवृत्त रखना। सर्व वासनाओं को त्याग देना 'दम' है। श्रोत्र, नेत्रादि इन्द्रियों को उनके विषय शब्द, रूप से हटाकर और शरीर को व्यभिचार आदि दुष्ट कर्मों से पृथक् रखकर जितेन्द्रिय होकर शुभगुणों में प्रवृत्त होने का नाम दम है। 'उपरति' दुष्ट कर्म करनेवाले लोगों से सदा दूर रहना उपरति कहाता है। 'तितिक्षा' शीतोष्ण, सुख-दुःख मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ चाहे कितना ही क्यों न हो, परन्तु हर्ष-शोक को छोड़कर मुक्ति के साधनों में लगे रहने का नाम तितिक्षा है। 'श्रद्धा' वेदादि सत्य शास्त्रों और इनके बोध से पूर्ण विद्वान्, सत्योपदेष्टा आचार्य और गुरु के वाक्यों पर विश्वास करना श्रद्धा कहाती है। 'समाधान', चित्त की एकाग्रता का नाम समाधान है।

मुमुक्षुत्व–संसार-बन्धन से मुक्त होने की उत्कण्ठा को मुमुक्षुत्व कहते हैं। जैसे भूख-प्यास से पीड़ित मनुष्य[१] को

---

१. किसी ने एक भूखे व्यक्ति से पूछा–'दो और दो कितने होते हैं?' उसने उत्तर दिया–'चार रोटियाँ।'

अन्न-जल के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता वैसे ही मुक्ति और मुक्ति के साधनों के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु में प्रीति न रखना मुमुक्षुत्व है।

इस साधन-चतुष्टय में पहला साधन है विवेक। विवेक कार्य-कारण, जीव, ब्रह्म और प्रकृति आदि के भेद-ज्ञान का नाम है। जीव और ब्रह्म के विषय में कहकर अब सृष्टि के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर किये हैं।

द्यौरासीत्पूर्वचित्तिः—पहला प्रश्न है पूर्वचित्ति=प्रथम चयन क्या होता है? उत्तर है द्यौ=विद्युत् पूर्वचयन है। इस उत्तर के अर्थ को समझने के लिए तनिक सृष्टि-उत्पत्ति पर विचार कीजिए। ऋग्वेद के 'नासदीय' सूक्त में सृष्टि-उत्पत्ति का बहुत ही सुन्दर और वैज्ञानिक वर्णन है। हम यहाँ कुछ मन्त्र प्रस्तुत करते हैं—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥

—ऋ० १०.१२९.१

जगदुत्पत्ति से पूर्व प्रलयावस्था में न तो अभाव था और न भाव ही था। ये दृश्यमान् लोक-लोकान्तर नहीं थे। लोक-लोकान्तरों से परे जो आकाश है वह भी तो नहीं था। इस सबको किसने आवृत्त किया हुआ था? यह सब कहाँ था, किसके आश्रय में था? जिस समय लोक-लोकान्तर और पृथिव्यादि भूत नहीं थे उस समय गहन और गम्भीर समुद्र भी कैसे हो सकता था?

प्रलयावस्था के समय यह दृश्यमान् पृथिवी, ये सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि लोक-लोकान्तर नहीं थे, आकाश भी नहीं था, समुद्र भी नहीं था। उस समय किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं थी, अतः कहा गया कि उस समय 'सत्' भाव,

नहीं था, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उस समय शशशृङ्ग के समान सब-कुछ अभाव रूप हो जाता है। नहीं, उसकी कुछ सत्ता अवश्य रहती है। इसीलिए कहा कि उस समय 'असत्' अर्थात् अभाव भी नहीं था। दूसरे शब्दों में हम यूँ कह सकते हैं कि उस समय 'कार्य-जगत्' की सत्ता नहीं थी, इस दृष्टि से उस समय 'सत्' भाव नहीं था, परन्तु उस समय भी जगत् अपने कारण, मूल–सूक्ष्म प्रकृति रूप में तो विद्यमान था ही, इसलिए कहा कि उस समय असत्, अर्थात् अभाव भी न था। उस समय अभिव्यक्त रूप में कुछ नहीं था।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।।

—ऋ० १०.१२९.२

उस समय=सृष्टि–उत्पत्ति से पूर्व, प्रलयावस्था में मृत्यु नहीं थी और अमृत भी नहीं था। उस समय रात्रि और दिन का ज्ञान भी नहीं था। उस समय वह प्रसिद्ध अद्वितीय ब्रह्म ही कारणरूप प्रकृति के साथ बिना वायु के ही श्वास ले–रहा था। निश्चय ही उस परमात्मा से उत्कृष्ट और कुछ भी उस समय नहीं था।

प्रलयावस्था में चेतन जीव भोक्तारूप में नहीं था। जब अमृत ही नहीं था तो मृत्यु तो हो ही कैसे सकती है? उस समय सूर्य और चन्द्रमा आदि भी नहीं थे, इसलिए उनके द्वारा उत्पन्न होनेवाले काल=दिन–रात की सत्ता भी नहीं थी। उस समय कारणरूप प्रकृति थी और उसके साथ सर्वोत्कृष्ट परमात्मा ही चेतनावस्था में विद्यमान था। उसे जीवित रहने के लिए वायु की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि–'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कठ० ५.१५) ये सूर्य, चन्द्र,

अग्नि आदि सब उसी की ज्योति से चमकते हैं, वायु उसे जीवन नहीं देती अपितु वही वायु का भी गतिदाता है। बस, परमात्मा के अतिरिक्त उस समय अन्य कोई चेतन नहीं था, क्योंकि जीव भी उस समय सुषुप्ति अवस्था में पड़े थे।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽ प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥

—ऋ० १०.१२९.३

सृष्टि से पूर्व, प्रलयावस्था में प्रकृति अन्धकार से आवृत्त थी। उस समय यह जगत् सूक्ष्मरूप में, कारणरूप में होने के कारण जाना न जा सकने के योग्य शून्य-सा था। दूसरे शब्दों में कारण ने कार्य को अपने भीतर छिपाया हुआ था, कारण के साथ एकीभूत जगत् सर्गकाल में तेजोमय परमात्मा के तप की महिमा से उत्पन्न हो जाता है।

'तप' एक पारिभाषिक शब्द है, प्रलय के पश्चात् जब परमात्मा सृष्टि को बनाने का विचार अथवा सङ्कल्प करते हैं, उस विचार अथवा सङ्कल्प को परमात्मा का तप कहा जाता है।

इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि प्रलय अवस्था में प्रकृति अव्यक्त होती है, वह परमाणुरूप में विद्यमान रहती है। जब परमात्मा उस प्रकृति से जीवों के कल्याण के लिए सृष्टि-रचना करते हैं, तो भिन्न-भिन्न जीवों के पूर्व जन्मों के कर्मानुसार उपयोगी परमाणुओं का चयन=संग्रह करते हैं। [चित्ति का अर्थ महर्षि दयानन्द ने चयन किया है, चयन का अर्थ होता है संग्रह करना] चयन करते समय परमाणुओं को विशेषरूप देने के लिए उनमें संघर्ष=रगड़ होती है। रगड़ से उत्पन्न होनेवाली उस अग्नि=बिजली को ही वेद में 'द्यौः' कहा गया है। महर्षि ने द्यौ का अर्थ यहाँ विद्युत् ही किया है। यह

विद्युत् ही प्रथम चयन है।

अश्वः आसीद् बृहद्वयः—दूसरा प्रश्न है सबसे बड़ा उत्पन्न पदार्थ क्या है? उत्तर है अश्व=महत्तत्त्व सबसे बड़ा उत्पन्न पदार्थ है।

इस उत्तर के रहस्य को समझने के लिए सृष्टि-क्रम को देखना होगा। सांख्य-दर्शन में सृष्टि-क्रम इस प्रकार है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारः, अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यो स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः।।

—सां० सू० १.६१

सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीन प्रकार के मूलतत्त्व हैं। इनकी साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। दूसरे शब्दों में जब ये तत्त्व कार्यरूप में परिणत नहीं होते, अपितु मूलकारण रूप में अवस्थित रहते हैं, तब इनका नाम प्रकृति है। जब परमात्मा की प्रेरणा से इनमें क्षोभ उत्पन्न होता है तब वे मूलतत्त्व कार्यरूप में परिणत होने के लिए तत्पर हो जाते हैं। तब उनकी अवस्था साम्य न रहकर वैषम्य की ओर बढ़ती है तब उनका जो प्रथम परिणाम होता है उसका नाम महत्तत्त्व है। इस महत्तत्त्व से अहङ्कार, अहङ्कार से पाँच तन्मात्रा, सूक्ष्मभूत और दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ (अन्तर-इन्द्रिय मन तथा दश बाह्य इन्द्रिय—जो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन दो भागों में विभक्त हैं)। इन्द्रियाँ केवल विकार हैं, इनसे किसी अन्य तत्त्व की उत्पत्ति नहीं होती है। तन्मात्रा=सूक्ष्मभूतों से पृथिव्यादि स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। इनमें मूलप्रकृति केवल उपादान है और महत् आदि तेईस पदार्थ उसके विकार हैं। ये चौबीस अचेतन है। इनके अतिरिक्त पच्चीसवाँ पुरुष-जीव और परमेश्वर चेतन हैं।

सूक्ष्मभूतों के पश्चात् सृष्टि का निर्माण किस प्रकार हुआ, यह उपनिषदों में द्रष्टव्य है–

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।। –तैत्तिरीयो० ब्रह्मा० १

उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश, अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था, उसका चयन=सञ्चय, संग्रह करने से आकाश उत्पन्न-सा होता है, वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहाँ ठहर सकें? आकाश के पश्चात् वायु उत्पन्न हुआ, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी उत्पन्न हुई। पृथिवी से ओषधियाँ– वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष अर्थात् मनुष्य-शरीर का निर्माण होता है।

आदिसृष्टि अमैथुनी होती है। पुरुष की उत्पत्ति से पूर्व वृक्ष, ओषधियाँ और वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। ये अन्न और वनस्पतियाँ पृथिवी पर गिरती हैं। परमपिता परमात्मा के नियम से कहीं ये अन्न और वनस्पतियाँ वीर्य में परिवर्तित होंगी और कहीं रज में। वायु से ये परस्पर मिलेंगे और बहुत समय तक इसी प्रकार पड़े रहेंगे। जब सब अवयवों का ठीक-ठीक निर्माण हो जाएगा तो पृथिवी माता से नौजवान बच्चे फूट निकलेंगे। जिनके माता-पिता हृष्ट-पुष्ट होते हैं उनके बच्चे भी हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ होते हैं। एक दिन का बच्चा ही ऐसा प्रतीत होता है मानो छह मास का हो। आरम्भ में जो बच्चे उत्पन्न हुए उनकी अवस्था तो एक दिन की ही थी, परन्तु उनके शरीर दीर्घकाय और विशाल थे।

उन्हें दूध पिलाने की आवश्यकता नहीं थी। वेद में इस तथ्य का वर्णन इस प्रकार है–

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽ मध्यमासो महसा वि वावृधुः ।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ॥

–ऋ० ५.५९.६

सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होनेवाले मनुष्य (उद्भिदः) वनस्पति आदि की भाँति उत्पन्न हुए। उनमें कोई ज्येष्ठ–कनिष्ठ अथवा मंझला न था–अवस्था में वे सब समान थे। वे तेजी से बढ़े। उत्कृष्टजन्मा वे लोग (जनुषा पृश्निमातरः) जन्म से प्रकृति मातावाले प्रकाशमय परमात्मा के पुत्र हम सब मनुष्यों की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट हैं।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय ।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः ॥

–ऋ० ५.६०.५

सर्गारम्भ में उत्पन्न हुए मनुष्य छोटाई और बड़ाई से रहित होते हैं। ये भाई कल्याण के लिए एक–से बढ़ते हैं। सदा जवान, सदा श्रेष्ठकर्मा, पापियों को रुलानेवाला शक्तिशाली परमात्मा इनका पिता होता है और (मरुद्भ्यः सुदिना) परिश्रमी मनुष्यों के लिए सुदिन लानेवाली (पृश्निः) प्रकृति अथवा पृथिवी इनके लिए सम्पूर्ण मनोरथों को पूर्ण करनेवाली होती है।

इन मन्त्रों में जवान मनुष्यों की उत्पत्ति का अत्यन्त स्पष्ट वर्णन है। अब तो पाश्चात्य विद्वान् भी इस बात को स्वीकार करने लगे हैं। बोसटन नगर के स्मिथ–सोनयिम इनस्टीट्यूशन (Smithsoniam Institution) के अध्यक्ष डा० क्लार्क (Clark) का कथन है–

Man appeared able to walk, able to think and able to defend himself.

अर्थात् मनुष्य उत्पन्न होते ही चलने, विचारने तथा आत्मरक्षा करने में समर्थ था।

सर्गारम्भ में एक दो मनुष्य उत्पन्न नहीं हुए, अनेक स्त्री-पुरुष उत्पन्न हुए थे। यजुर्वेदीय पुरुषोपनिषद् में कहा है–

तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥

–यजु:० ३१.९

उस परमेश्वर ने मनुष्य और ऋषियों को उत्पन्न किया। यहाँ 'साध्या:' और 'ऋषय:' दोनों बहुवचन में हैं, अत: ईश्वर ने सैकड़ों-सहस्रों मनुष्यों को उत्पन्न किया।

मुण्डकोपनिषद् में भी इस बात का समर्थन किया गया है–

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूता:,
साध्या मनुष्या: पशवो वयांसि॥ –मुण्डक० २.१.७

उस पुरुष से अनेक प्रकार के देव=ज्ञानीजन, साधनशील मनुष्य, पशु और पक्षी उत्पन्न हुए।

प्रश्नोत्तर के मर्म को समझाने के लिए यहाँ हमने सृष्टि उत्पत्ति का विवेचन किया है। इस विवेचन पर ध्यान दीजिए। परमाणुओं में गति होकर जो कुछ बनता है, सांख्य-दर्शन में उसे महत्तत्त्व कहा गया है और वेद में उसी महत्तत्त्व का 'अश्व' नाम दिया गया है। अश्व का अर्थ आचार्य दयानन्द ने महत्तत्त्व किया है। 'वय:' शब्द 'वी प्रजननकान्तिगतिषु' धातु से निष्पन्न होता है, अत: 'वय:' शब्द का अर्थ उत्पन्न पदार्थ भी होता है। सबसे बड़ा उत्पन्न पदार्थ महत्तत्त्व के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है?

'अश्व' शब्द का महत्तत्त्व अर्थ प्रसिद्ध पदसन्निधान से किया गया है। साहित्यिक लोग उदाहरण दिया करते हैं–**'प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति।'** इस वाक्य में 'मधुकरः' को छोड़कर शेष सारे पदों का अर्थ ज्ञात है। उनकी सन्निधि के बल से मधुकर का अर्थ भौंरा किया जाता है तब वाक्य का अर्थ इस प्रकार होता है 'खिले कमल में भौंरा शहद पीता है।' इसी प्रकार यहाँ भी **'अश्व आसीद् बृहद् वयः'** अश्व बड़ा उत्पन्न पदार्थ है। 'बृहद् वय' का अर्थ बड़ा उत्पन्न पदार्थ हमें ज्ञात है। शास्त्रबल से यह भी हमें पता है कि उत्पन्न पदार्थों में महत्तत्त्व ही सबसे बड़ा है, अतः अश्व का अर्थ महत्तत्त्व ही उचित और युक्तियुक्त है। घोड़ा अर्थ मानने से वेदवाक्य निरर्थक हो जाता है, परन्तु वेद में तो एक भी अक्षर निरर्थक नहीं है, परन्तु धन्य है इन ईसाई लेखकों की बुद्धि को! ग्रिफिथ ने **'अश्व आसीद् बृहद् वयः'** का अर्थ The Courser was the mighty bird (घोड़ा सबसे बड़ा पक्षी था) कर डाला है। यह अर्थ अशुद्ध और असङ्गत है। महर्षि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित अर्थ ही ठीक है।

अविरासीत् पिलिप्पिला–अब तीसरे प्रश्नोत्तर को लीजिए। प्रश्न है पिलिप्पिला कौन-सी वस्तु होती है? उत्तर है–प्रकृति पिलपिली=चिकनी होती है।

जब प्रकृति में संघर्ष होता है तो उसमें कुछ शिथिलता आ जाती है, उसी अवस्था को पिलिप्पिला कहते हैं। 'अवि' प्रकृति का नाम है। देखिए अथर्ववेद–

अविर्वै नाम देवत ऋतेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः॥

–अथर्व० १०.८.३१

निश्चय ही (अविः नाम) अवि=प्रकृति नामक एक (देवता) दिव्य गुणसम्पन्न पदार्थ है, जो (ऋतेन) सत्य नियम से (परीवृता आसते) ढकी रहती है, अर्थात् इसमें सब परिणाम नियमानुसार होते रहते हैं। अथवा यह प्रकृति (ऋतेन) सर्वव्यापक परमात्मा से सब ओर अन्दर-बाहर आच्छादित रहती है। अथवा (ऋतेन) जीव समुदाय के द्वारा अपने-अपने भोग प्राप्ति के लिए स्वीकार की जाती है, ग्रहण की जाती है। (तस्या रूपेण) उसी के रूप से (इमे) ये (हरितस्रज वृक्षाः) हरी मालाओंवाले वृक्ष (हरिताः) हरे-भरे रहते हैं।

'अविः' शब्द 'अव' धातु से निष्पन्न होता है। इसके अनेक अर्थों में से एक अर्थ स्वाम्यर्थ=स्वामी की सम्पत्ति है। सांख्य दर्शन में पुरुष=परमात्मा को प्रकृति का स्वामी और प्रकृति को उसका स्व=धन, सम्पत्ति बताया गया है। इस सिद्धान्त को वेद का 'अविः' शब्द बताता है। प्रकृति के सारे कार्य परमात्मा के नियमों के अधीन हैं। **'ऋतेनास्ते परीवृता'** वाक्य में परमेश्वर का प्रकृति में व्यापक होना, प्रकृति का परार्थत्व, पुरुष के लिए होना और संसार का नियमयुक्त होना बताया गया है। वृक्ष=नाशवान् पदार्थ परमात्मा के रूप से ही हरे-भरे हैं। अथवा वृक्ष से तात्पर्य प्राणिमात्र के शरीर से भी हो सकता है। सारे शरीर पाँचभौतिक हैं, अतः उनका पालन-पोषण भी प्राकृतिक पदार्थों से ही हो सकता है।

रात्रिरासीत् पिशङ्गिला—अब अन्तिम प्रश्नोत्तर को लीजिए। प्रश्न है अवयवों को, रूपों को, भीतर करनेवाली, निगलनेवाली वस्तु कौन-सी होती है? उत्तर है रात्रि के समान प्रलय सब अवयवों को, रूपों को निगलनेवाली है।

जिस प्रकार रात्रि में अन्धकार के कारण रूप दिखाई नहीं देता वह रूपों को निगल जाती है, ठीक इसी प्रकार

प्रलयावस्था में भी नाम-रूप समाप्त हो जाते हैं। प्रलयावस्था में यह दृश्यमान् जगत्=स्थूल जगत् नहीं रहता, इसीलिए प्रलय को सब अवयवों को भीतर करनेवाली कहा गया है। 'प्रलय' अर्थ में 'रात्रि' शब्द का प्रयोग बहुधा होता है। पिशङ्गिला का अर्थ पिश=अवयव ('पिश अवयवे' धातु से सिद्ध होता है) को निगलनेवाला महर्षि दयानन्द के अनुसार दिया गया है।

काऽईंमरे पिशङ्गिला काऽईं कुरुपिशङ्गिला।
कऽईंमास्कन्दमर्षति कऽईं पन्थां वि सर्पति॥
अजारे पिशङ्गिला श्वावित्कुरुपिशङ्गिला।
शशऽआस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां वि सर्पति॥
—यजुः० २३.५५-५६

प्रश्न—१. (अरे) हे विद्वन्! (का ईम् पिशङ्गिला) पिशङ्गिला क्या वस्तु है?

२. (ईम्) और (कुरुपिशङ्गिला) कुरुपिशङ्गिला (का) क्या है?

३. (ईम्) तथा (कः) कौन (आस्कन्दम्) उछल-उछलकर (अर्षति) चलता है अथवा आस्कन्द को कौन प्राप्त होता है?

४. (कः) कौन (ईम्) बार-बार (पन्थाम्) मार्ग पर (वि) अनेक प्रकार से (सर्पति) चलता है।

उत्तर—१. (अरे) हे प्रश्नकर्त्तः! सुन, (अजा) जन्मरहित= अनादि प्रकृति (पिशङ्गिला) प्रलयकाल में समस्तरूपों को अपने भीतर निगलनेवाली है। सारी कार्य-वस्तुएँ कारण में लीन हो जाती हैं।

२. (कुरुपिशङ्गिला) कार्यप्रकृति, कार्यों के रूपों को उगलने=प्रकट करनेवाली सृष्टि (श्वावित्) इन्द्र=जीवात्मा को प्राप्त होनेवाली है।

३. (शशः) चतुर, ज्ञानी पुरुष इस संसार में (आस्कन्दं अर्षति) उछल-उछलकर चलता है अथवा आस्कन्द को प्राप्त होता है।

४. (**अहिः**) सर्पवत् कुटिल स्वभाववाला मनुष्य (**पन्थाम्**) मार्ग पर=जीवन और मृत्यु के मार्ग पर (वि) विविध प्रकार से (**सर्पति**) चलता है, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है।

यहाँ भी प्रथम मन्त्र में चार प्रश्न हैं और दूसरे मन्त्र में क्रमशः उनके उत्तर दिये गये हैं। ये पूर्वोक्त प्रश्नोत्तरों से सम्बद्ध हैं।

अजारे पिशङ्गिला—प्रथम प्रश्न है पिशङ्गिला क्या वस्तु है? उत्तर है जन्मरहित प्रकृति ही पिशङ्गिला है। पाठक यहाँ पूछ सकते हैं कि पिछले मन्त्र में पिशङ्गिला का अर्थ प्रलय किया गया है और यहाँ प्रकृति ऐसा क्यों? इसका उत्तर यह है कि अर्थ प्रकरण के अनुकूल होता है। इस विषय में महर्षि दयानन्द ने एक सुन्दर उदाहरण दिया है—

"जहाँ जिसका प्रकारण है, वहाँ उसी का ग्रहण करना योग्य है, जैसे किसी ने किसी को कहा कि "**हे भृत्य! त्वं सैन्धवमानय।**" अर्थात् तू सैन्धव को ले-आ, तब उसको समय अर्थात् प्रकरण का विचार करना अवश्य है, क्योंकि सैन्धव नाम दो पदार्थों का है, एक घोड़े और दूसरे लवण का। जो स्वामी का गमन समय हो तो घोड़े और भोजन का काल हो तो लवण को ले-आना उचित है। और जो गमन-समय में लवण और भोजन-समय में घोड़े को ले-आवे तो उसका स्वामी उसपर क्रुद्ध होकर कहेगा कि तू निर्बुद्धि पुरुष है। गमन समय में लवण और भोजनकाल में घोड़े के लाने का क्या प्रयोजन था? तू प्रकरणवित् नहीं है, नहीं तो जिस समय जिसको लाना चाहिए था, उसी को लाता। जो तुझको प्रकरण का विचार करना आवश्यक था, वह तूने नहीं किया, इससे तू मूर्ख है, मेरे पास से चला जा। इससे

क्या सिद्ध हुआ कि जहाँ जिस अर्थ का ग्रहण करना उचित हो, वहाँ उसी अर्थ का ग्रहण करना चाहिए।"

—स० प्र० प्रथमसमुल्लास

प्रकरणानुसार यहाँ पिशङ्गिला का अर्थ 'प्रकृति' ही है। **'पिशं अवयवादिकं गिलति निगरति सा प्रकृतिः'** जो अवयव आदि को उगले या निगले उसे प्रकृति कहते हैं। इस निरुक्ति के अनुसार पिशङ्गिला का अर्थ प्रकृति है, क्योंकि सृष्टि-उत्पत्ति के समय प्रकृति रूपों को=अवयवों को, कार्य-पदार्थों को उगलती है, प्रकट करती है और प्रलयकाल में निगल जाती है। किसी को यह भ्रान्ति न हो जाए कि कार्यपदार्थों की भाँति प्रकृति भी कार्यरूप है, अतः परमात्मा ने पिशङ्गिला=प्रकृति को 'अजा' जन्म न लेनेवाली, अनादि कह दिया है।

प्रकृति की नित्यता को वेद में अन्यत्र इस रूप में प्रतिपादित किया गया है—

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव।
मही देव्युषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे॥

—अथर्व० १०.८.३०

यह (सनत्नी) सनातन, सदा रहनेवाली प्रकृति सदा ही प्रसिद्ध है, सदा विद्यमान रहती है। पुरानी होते हुए भी नित्य नये रूप धारण करनेवाली यह प्रकृति सब कार्यों में पूर्णरूपेण रहती है। यह विशाल और कान्तिमयी है। यह (उषसः) कमनीय पदार्थों को विशेषरूप से प्रकाशित करनेवाली है। यह प्रकृति प्रत्येक गतिशीलजीव के साथ अपना स्वरूप प्रकट कर रही है।

इस मन्त्र में प्रकृति को स्पष्ट शब्दों में अनादि, कार्यरूप में परिणत होनेवाली और सब कार्यों का कारण बताया गया

है।

यह सारा संसार प्रकृति के अवयवों से परिपूर्ण है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है–

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्या अवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

–श्वेता० ४.१०

प्रकृति को माया जानो और परमेश्वर को मायी। उस माया=प्रकृति के अवयवों से यह सारा संसार व्याप्त है।

संसार में जितने दृश्यमान् पदार्थ हैं, वे सब प्राकृतिक तो हैं ही। ये सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, पृथिवी, जल आदि सब प्रकृति के अवयवभूत ही तो हैं।

श्वावित् कुरु पिशङ्गिला–अब दूसरे प्रश्नोत्तर को लीजिए। प्रश्न है कुरुपिशङ्गिला क्या है? उत्तर है, कुरुपिशङ्गिला= कार्य प्रकृति=सृष्टि श्वावित्=जीवों के लिए है।

यह विशाल सृष्टि चकित करनेवाली है। यह प्रकृति जड़ है। स्वयं प्रकृति के लिए तो इसका कोई उपयोग नहीं है, अतः एक स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि यह सृष्टि किस प्रयोजन के लिए है, किसके लिए है?

परमात्मा उत्तर देते हैं–'**श्वावित् कुरुपिशङ्गिला**'। कुरुपिशङ्गिला, कार्यपिशङ्गिला, कार्यप्रकृति, सृष्टि, विकृति–ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। 'श्वावित्' शब्द का अर्थ है 'श्वा' को प्राप्त होनेवाली। 'श्वा' प्राप्त करेन योग्य, विचारने योग्य, जानने योग्य। अब श्वा का क्या अर्थ है, यह विवेचनीय है।

वेद की शैली से अनभिज्ञ कुछ लोग तो लौकिक संस्कृत की भाँति वेद में भी श्वा का अर्थ कुत्ता ही लेते हैं। वेद अपने शब्दों की व्याख्या स्वयं करता है। वेद में श्वा के अनेक अर्थ हैं। देखिए–

शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च॥ –अथर्व० ३.१५.४

देशान्तर में ले-जाकर बेची जानेवाली वस्तुएँ और उनका विक्रय हमारे लिए (शुनम्) कल्याणकारी, सुखकर हो। यहाँ 'श्वा' का अर्थ हुआ कल्याणकारी अथवा सुखकर।

इसी प्रकार **'शुनं वाहाः'** (अ० ३.१७.६) हमारे वाहन बैल-घोड़े आदि (शुनम्) सुखदायक हों। यहाँ भी श्वा का अर्थ सुखदायक है।

वेद में इन्द्र को भी श्वा कहा गया है। लीजिए निम्न मन्त्र खण्ड का अवलोकन कीजिए–

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्। –ऋ० ३.३०.२२

'श्वा' मघवा=इन्द्र को हम बुलाते हैं।

यहाँ इन्द्र को मघवा ऐश्वर्यवान् कहा गया है, जो इन्द्र ऐश्वर्यशाली है वह दरिद्र, दीन-हीन कुत्ता कैसे हो सकता है? अतः 'श्वा' का यौगिक अर्थ लेना चाहिए। 'श्वा' शब्द **'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः'** धातु से निष्पन्न होता है। गति के तीन अर्थ हैं ज्ञान, गमन और प्राप्ति। जो ज्ञानवान् हो, गमनशील हो और प्राप्त करने योग्य हो, जो वृद्ध हो अथवा बढ़ सकता हो, उसे श्वा कहते हैं। इस दृष्टि से 'श्वा' का अर्थ जीवात्मा और परमात्मा दोनों हो सकते हैं और यह इन्द्र का विशेषण भी इसी अर्थ में सङ्गत होता है।

अब 'श्वावित्' शब्द का अर्थ हुआ इन्द्र को प्राप्त होनेवाली। जिस समय यह प्रकृति जीवात्मा को प्राप्त होती है तब यह पिशङ्गिला=कारणरूप में नहीं रहती अपितु कुरुपिशङ्गिला कार्यप्रकृति=सृष्टि का रूप धारण कर लेती है। इसको प्राप्त करके जीव नाना प्रकार के भोगों का उपभोग करता है। इसके रहस्य और तत्त्व को जानकर जीव मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

योगदर्शन की परिभाषा में 'कुरुपिशङ्गिला' को 'दृश्य' कहा गया है और इसका प्रयोजन भोग और मोक्ष बतलाया है—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

—यो० द० २.१८

दृश्य=कुरुपिशङ्गिला का स्वभाव प्रकाश, क्रिया और स्थिति है। इसका स्वरूप पञ्चभूत और इन्द्रियाँ हैं और इसका प्रयोजन भोग और मोक्ष है।

शशः आस्कन्दमर्षति—अब तीसरे प्रश्नोत्तर को लीजिए। प्रश्न है उछल-उछलकर कौन चलता है। अथवा मोक्ष को कौन प्राप्त करता है? उत्तर है ज्ञानी मनुष्य उछल-उछलकर चलता है। वह इस संसार के फँदे में फँसता नहीं है, अतः वही मोक्ष प्राप्त करता है।

"ज्ञानी पुरुष उछल-उछलकर चलता है" का भाव यह है कि वंह संसार के भोगों में, विषय-वासनाओं में नहीं फँसता। वह सांसारिक वासनाओं और एषणाओं से पृथक् होकर ब्रह्ममार्ग में चलता है।

वेद ने इस संसार को जाल की उपमा दी है—

अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान्।

—अथर्व० ८.८.८

यह संसार शक्तिशाली परमेश्वर का जाल है। मूर्ख इस जाल में फँस जाते हैं, परन्तु ज्ञानी इससे पार हो जाते हैं।

खरहा=खरगोश इस बात की शिकायत करने के लिए नहीं रुक जाता कि उसके मार्ग में कटीली और ज़हरीली तथा ऊँची-ऊँची झाड़ियाँ हैं। वह तो उछल-कूदकर अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच ही जाता है।

इस संसार के कार्य तो लगे ही रहते हैं। संसार के कार्य कभी समाप्त नहीं होंगे। यहाँ तो कहीं रूप का आकर्षण है तो कहीं शब्दों की मधुर ध्वनि। कहीं सुरा और सुन्दरी है तो कहीं आपत्तियाँ और सङ्कट, विघ्न और बाधाएँ। ज्ञानी मनुष्य इनमें फँसता नहीं। ज्ञानी मनुष्य तो इस संसार में रहते हुए, जीवन-यात्रा के लिए सब कार्य करते हुए भी प्रभुभक्ति के लिए भी समय निकाल ही लेता है। ज्ञानी पुरुष समय के अभाव का रोना नहीं रोते। लीजिए, इस विषय में एक प्रेरक दृष्टान्त प्रस्तुत है–

एक बार अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध लेखक डॉक्टर जानसन से उनके एक मित्र ने अपनी कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए कहा–"देखिए न दिन-रात मिलाकर कुल चौबीस ही घण्टे होते हैं। इनमें आठ घण्टे तो सोने में निकल गये और आठ घण्टे आफिस में चले जाते हैं। अब शेष आठ घण्टों में न जाने कितने काम करने पड़ते हैं–खाना-पीना, हजामत बनाना, मिलना-जुलना, चिट्ठी-पत्री और न जाने क्या-क्या? मैं तो इस व्यस्त जीवन से तङ्ग आ चुका हूँ। यहाँ तक कि लाख प्रयत्न करने पर भी न तो धार्मिक चर्चा में सम्मलित हो पाता हूँ और न धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ने के लिए समय ही निकाल पाता हूँ।"

डॉ० जानसन थोड़ी देर मुस्कराते रहे, परन्तु शीघ्र ही उनके मुखमण्डल पर गम्भीरता छा गई और वे एक दीर्घ निःश्वास लेकर बोले–"फिर तो मुझे भूखों मरना पड़ेगा।"

मित्र ने चकित होकर पूछा–"क्यों?"

डॉ० जानसन ने उसी गम्भीरता से उत्तर दिया, "आप तो जानते ही हैं मैं पर्याप्त खानेवाला आदमी हूँ, परन्तु संसार में अन्न उपजानें के लिए केवल एक चौथाई ही तो भूमि है और

इसमें भी न जाने कितने पहाड़ हैं, कितने ही ऊबड़-खाबड़ स्थल और मरुस्थल हैं और कहीं बंजर भूमि है, परन्तु संसार में मेरे जैसे पेट भरनेवाले करोड़ों हैं।

मित्र बोले, "आप तो व्यर्थ ही चिन्ता करते हैं। संसार में सदा से करोड़ों लोग रहते आये हैं और उनके भोजन का प्रबन्ध भी होता ही आया है।"

"आप ठीक कहते हैं" डॉ० महोदय के चेहरे पर पुनः प्रसन्नता खेलने लगी। "यदि मेरे भोजन का प्रबन्ध हो सकता है तो फिर कोई कारण नहीं कि आपको धर्म-चर्चा में सम्मिलित होने अथवा धर्म-ग्रन्थ पढ़ने के लिए समय न मिले।"

ज्ञानी लोग व्यस्त क्षणों में भी ईश्वर की आराधना, उसकी स्तुति और प्रार्थना के लिए समय निकाल ही लेते थे। मर्यादा पुरुषोत्तम राम, माता सीता प्रतिदिन सन्ध्या अवश्य करते थे। श्रीकृष्ण मार्ग में भी सन्ध्या करना नहीं भूलते थे। महर्षि दयानन्द अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी प्रतिदिन योगारूढ़ अवश्य होते थे। जिस दिन उन्हें शास्त्रार्थ करना होता था उस दिन तो वे और दिनों की अपेक्षा और भी अधिक समय तक समाधिस्थ होते थे।

परमात्मा का सबसे बड़ा भक्त तो वही है जो संसार में रहते हुए, यहाँ के सारे क्रिया-कलापों को करते हुए ईश्वर को नहीं भूलता। इस विषय में एक अत्युत्तम दृष्टान्त है—

एक बार नारद ने भगवान् से पूछा, "आपका परमभक्त कौन है? मैं उसके दर्शन करना चाहता हूँ।" भगवान् बोले, "अचलापुर में एक ब्राह्मण रहता है, वही मेरा परमभक्त है।" नारदजी वहाँ पहुँचे। नारदजी ने देखा भक्त प्रातःकाल उठकर कामना से प्रभु का ध्यान करता है और दिनभर कार्य में लगा

रहता है। रात्रि में प्रार्थना करके सो जाता है। नारद ने सोचा भगवान् ने मेरे साथ ठठोली की है। वे वापस भगवान् के पास लौटे और कहा, "मुझे तो उसमें कोई विशेष बात दिखाई नहीं दी। वह केवल प्रातः-सायं आपका नाम ले-लेता है।" भगवान् ने नारद को दूध का भरा कटोरा देकर कहा, "जाओ और पृथिवी की एक परिक्रमा लगा आओ, परन्तु ध्यान रखना दूध की एक बूँद भी पृथिवी पर न गिरे।" जब नारदजी परिक्रमा लगाकर लौटे तो भगवान् ने पूछा, "दूध गिरा तो नहीं?" नारद ने कहा, "बिल्कुल नहीं।" भगवान् ने पूछा, "अब यह बताओ, जितनी देर में तुमने पृथिवी की परिक्रमा की तुमने ईश्वर का स्मरण कितनी बार किया?" नारद ने कहा, "मेरा ध्यान तो दूध के प्याले पर था, मैंने तो एक भी बार स्मरण नहीं किया।" तब भगवान् ने समझाया कि वह ब्राह्मण दिनभर अपने कार्यों में व्यस्त रहता है फिर भी दो समय मेरी आराधना करना नहीं भूलता, इसीलिए वह मेरा परमभक्त है।"

इस संसार को छोड़कर भागने की आवश्यकता नहीं है। यहीं, संसार में रहते हुए ही, उस ईश्वर की आराधना और उपासना करो, मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करो। वेद के शब्दों में आपकी यह कामना हो-

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।।

—यजुः० २०.२१

हम (तमसः) प्रकृति से ऊपर उठते हुए (स्वः) उत्कृष्ट आत्मा के दर्शन करते हुए प्रकाशमान पदार्थों के भी प्रकाशक सूर्य के समान तेजस्वी सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर को प्राप्त हों।

मनुष्य-शरीर पाकर भी यदि जीवन-लक्ष्य को प्राप्त न किया, आत्म-कल्याण की साधना नहीं की तो जीवन व्यर्थ ही है, कहा भी है–

यः प्राप्य मानुषं देहं मुक्तिद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत्सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥

–भा० पु० ११.६.४७

मोक्ष के खुले द्वाररूपी शरीर को पाकर भी जो पक्षियों की भाँति अज्ञान के अन्धेरे में क़ैद है, उसे लक्ष्य से च्युत=भ्रष्ट ही समझना चाहिए।

ज्ञानी मनुष्य कभी भी विघ्न और बाधाओं की चिन्ता नहीं करता। वह जानता है कि–

The winds and waves are always on the side of the ablest navigators. —*Gibbon*

अर्थात् वायु और लहरें सदा ही योग्य नाविकों के अनुकूल होती हैं।

ज्ञानी मनुष्य इस संसार में न फँसता हुआ मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

अहिः पन्थां वि सर्पति–अब चौथे प्रश्नोत्तर को लीजिए। प्रश्न है कौन बार-बार मार्ग पर चलता है और जन्म-मरण के चक्र में फँसता है? उत्तर है 'अहि'=कुटिल स्वभाववाला व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है।

यह संसार मार्ग=पन्था के नाम से कहा गया है। जो मनुष्य अहि=कुटिल स्वभाववाला होता है, वह इस संसार-मार्ग में=आवागमन के चक्र में फँसा रहता है, वह नाना प्रकार की योनियों में आता-जाता रहता है। जो सरलता को छोड़कर विषय-भोगों में फँस जाता है, कुटिलता धारण कर लेता है, वह साँप-जैसा, कुटिल स्वभाववाला हो जाता है, नाना मार्गों

में विचरण करता है। नाना प्रकार की योनियाँ ही नाना मार्ग हैं। जो प्रकृति और विकृति के स्वरूप को नहीं जानता वह इसमें फँस जाता है और विषय-वासनाओं में फँसा हुआ बारम्बार जन्म-मरण के चक्र में आता है।

'हे संसार के लोगो! यदि संसार से त्राण चाहते हो, यदि मोक्ष प्राप्त करना चाहते हो तो प्रभु की चेतावनी को सुनो-

माहिर्भूर्मा पृदाकुः॥ —यजुः० ६.१२

हे विस्तार चाहनेवाले! तू साँप और अजगर मत बन। तू शशः= ज्ञानी बन, तुझे मोक्ष की प्राप्ति होगी।

तीसरे और चौथे प्रश्नोत्तर के तत्त्व को श्वेताश्वतर उपनिषद् में ऋषि ने अत्यन्त सरल शब्दों में यूँ व्यक्त किया है-

अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां, बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽ नुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽ न्यः ॥
—श्वे० ४.५

जो अनेक प्रकार की सत्त्व-रजस्तमोमयी रूपवाली प्रजाओं का सृजन कर रही है, ऐसी अजा=अनादि प्रकृति का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ एक अज=जीव उसमें फँस जाता है और दूसरा इसके स्वरूप को जानकर इसे त्याग देता है।

कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणि कति होमासः कतिधा समिद्धः ।
यज्ञस्य त्वा विदथा पृच्छमत्र कति होतारऽऋतुशो यजन्ति ॥
षडस्य विष्ठाः शतमक्षराण्यशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः ।
यज्ञस्य ते विदथा प्र ब्रवीमि सप्त होतारऽऋतुशो यजन्ति ॥
-यजुः० २३.५७-५८

प्रश्न— हे विद्वन्! (यज्ञस्य) यज्ञविषयक (विदथा) ज्ञान-विज्ञान के (अत्र) विषय में (त्वा) तुझसे (पृच्छम्) पूछता हूँ।

१. (अस्य) इस यज्ञ के (कति विष्ठाः) कितने आश्रय हैं?
२. (कति अक्षराणि) कितने अक्षर हैं?
३. (कति होमासः) कितने होम हैं?
४. यह (कतिधा) कितने प्रकार से (समिद्धः) प्रकाशित किया जाता है, अर्थात् इसमें कितनी समिधाएँ हैं?
५. (कति होतारः) कितने होता (ऋतुशः) ऋतु-ऋतु में अथवा नियमानुसार (यजन्ति) यज्ञ करते हैं।

उत्तर— हे जिज्ञासु! (ते) तुझे (यज्ञस्य विदथा) यज्ञविषयक ज्ञान-विज्ञान और रहस्य (प्र ब्रवीमि) भली प्रकार कहता हूँ।

१. (अस्य) इस यज्ञ के (षट्) छह (विष्ठाः) आश्रय हैं।
२. (शतं अक्षराणि) सौ अक्षर हैं।

३. (अशीतिः होमाः) अस्सी होम हैं।

४. (तिस्रः ह) तीन ही (समिधः) समिधाएँ हैं, और

५. (सप्त होतारः) सात होता ऋत्विक् (ऋतुशः) ऋत्वनुकूल=नियमानुसार यज्ञ करते हैं।

यहाँ प्रथम मन्त्र में पाँच प्रश्न हैं और अगले मन्त्र में उनके उत्तर। हम क्रमशः एक-एक प्रश्नोत्तर पर विचार करेंगे–

षडस्य विष्ठा–पहला प्रश्न है–इस यज्ञ के कितने आश्रय हैं? उत्तर है–इस यज्ञ के छह आश्रय हैं। इससे पूर्व मन्त्रों में संसार-विषयक चर्चा हुई है। ये मन्त्र पूर्वोक्त मन्त्रों से सम्बद्ध हैं। यज्ञ का अर्थ केवल अग्निहोत्र नहीं है। यज्ञ तो बहुत ही व्यापक और विस्तृत अर्थों का द्योतक है। यज्ञ शब्द 'यज्' धातु से निष्पन्न होता है जिसके अर्थ देवपूजा, सङ्गतीकरण और दान हैं। जिन कार्यों में इन अर्थों का समावेश हो वे सब यज्ञ हैं। 'वेणीसंहार' नाटक में तो युद्ध को भी यज्ञ कहा गया है। यह संसार भी एक यज्ञ है। प्रश्न उत्पन्न होता है इस संसाररूपी यज्ञ के कितने आश्रय हैं? वेद कहता है इस संसार- यज्ञ के छह आश्रय हैं–पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और आत्मा। अथवा छह ऋतुएँ ही इसका आधार हैं। यहाँ हमें इसकी विशेष व्याख्या नहीं करनी।

यह पुरुष भी एक यज्ञ है। उपनिषद् में कहा है : **'पुरुषो वाव यज्ञः'** (छान्दो० ३.१६.१)। इस पुरुष के छह आधार हैं–पाँच महाभूत और छठा आत्मा। अथवा पाँच प्राण और छठा आत्मा भी इसके आधार कहे जा सकते हैं, क्योंकि यह उनमें विशेषरूप से स्थित है।

'विष्ठा:' का एक अर्थ वर्च या तेज भी होता है। यह तेज छह प्रकार का होता है। शरीर का धारण इन्हीं से होता है, इसीलिए तो वैदिकधर्मी प्रार्थना करता है–

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि
बलमसि बलं मयि धेह्योजोऽस्योजो मयि धेहि
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥

–यजुः० १९.९

प्रभो! आप तेजस्वी हैं मेरे जीवन में भी तेज का, दूसरों को आकर्षित करने की शक्ति का (Personal-magnetism) आधान कीजिए। आप वीर्यवान् हैं मुझमें भी वीर्य, (पराक्रम, इन्द्रियशक्ति) का सञ्चार कीजिए। आप बलवान् हैं, मुझे भी बल (मांस-पेशियों और हड्डी-पसली की शक्ति) प्रदान कीजिए। आप ओजस्वी हैं, मुझे भी ओज (रोग-निरोधक शक्ति) प्रदान कीजिए। आप मन्युस्वरूप हैं, मुझे भी मन्यु (दुष्टदलन शक्ति) प्रदान कीजिए। आप अपार सहनशील हैं, मुझे भी सहनशील बनाइए।

मन्त्र में वर्णित तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु और सह–ये छह शक्तियाँ ही शरीर का आधार हैं। इन शक्तियों के अभाव में मनुष्य समाप्त हो जाता है।

शतमक्षराणि–संसाररूप यज्ञ में शतं=अपरिमित, असंख्य भोग- साधन (अश भोजने) हैं। जीव इनका भोक्ता है। सृष्टि की आयु भी सौ वर्ष है। पाठकगण चौंकिए मत। 'शब्दकल्पद्रुम' कोष में शत के अनेकार्थ हैं। जिनमें अपरिमित तथा असंख्य भी दो अर्थ हैं। एक कल्प की आयु ४,३२,००,००,००० (चार अरब बत्तीस करोड़) वर्ष है, परन्तु सृष्टि तो प्रवाह से अनादि है। सृष्टि के पश्चात् प्रलय, फिर सृष्टि और प्रलय यह क्रम तो निरन्तर चलता ही रहता है, अतः सृष्टि की

आयु सौ वर्ष, अपरिमित एवं असंख्य है।

अब शरीर–यज्ञ को लीजिए। प्रश्न है कितने अक्षर हैं? उत्तर है सौ अक्षर हैं। अक्षर का अर्थ है व्याप्ति अथवा भोग का समय। शत का एक अर्थ पुरुषायुष्य (शब्दकल्पद्रुम) भी है। मनुष्य की साधारण आयु सौ वर्ष है। हम सन्ध्या में प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं–

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥

–यजुः० ३६.२४

जो ब्रह्म सबका द्रष्टा, धार्मिक विद्वानों का परम हितकारक तथा सृष्टि से पूर्व वर्त्तमान, शुद्धस्वरूप और सर्वत्र व्यापक है उस ब्रह्म को हम सौ वर्ष तक देखें। उसकी कृपा से सौ वर्ष तक प्राणों को धारण करें। उसी ब्रह्म को सौ वर्ष तक सुनें। उसी ब्रह्म को और उसी ब्रह्म के गुणों का सौ वर्ष तक दूसरों के लिए उपदेश करते रहें। उसकी कृपा से सौ वर्ष तक स्वतन्त्र रहें किसी के अधीन न हों। उसी की कृपा से सौ वर्ष से भी अधिक देखें, जीवें, सुनें, सुनावें और स्वतन्त्र रहें।

प्रत्येक व्यक्ति को सौ वर्ष जीने का प्रयत्न तो करना ही चाहिए। प्रभु का उपदेश है–

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्। शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥

–यजुः० ३५.१५

मैं मनुष्य के लिए जीवन की इस परिधि (सौ वर्ष की आयु) को निश्चित करता हूँ। कोई भी मनुष्य इस लक्ष्य से भ्रष्ट न हो, प्रत्येक व्यक्ति सौ वर्ष तो जीए ही। ये प्रजाजन

सौ वर्ष से भी अधिक जीवन धारण करें और अकालमृत्यु को अपने पुरुषार्थ, ज्ञान-विज्ञान और ब्रह्मचर्य से मार भगाएँ।

जिस समय मृत्यु आपके पास आए तो उसे ललकार कर कह दो–

परं मृत्यो अनु परेहि। –यजुः० ३५.७

हे मृत्यो! तू यहाँ से दूर भाग जा। और–

मृत्योः पदं योपयन्त यदैते द्राघीयमायुः प्रतरं दधानाः॥
–अथर्व० १२.२.३०

मृत्यु के पैर को परे धकेलते हुए इस जीवन को दीर्घ और कष्टों से पार उतरने योग्य बनाते हुए आगे बढ़ो।

अशीतिर्होमाः–अब तीसरे प्रश्नोत्तर को लीजिए–प्रश्न है होम कितने हैं? उत्तर है अस्सी। संसार-यज्ञ में असंख्य (अश व्याप्तौ) देने-लेने योग्य वस्तुएँ हैं। इस संसार पर दृष्टि डालिए। यह भूमि हमें कितने पदार्थ प्रदान करती हैं। नाना प्रकार के अन्न, फल-फूल, ओषधियाँ और वनस्पतियाँ हमें पृथिवी से ही प्राप्त होते हैं। दूसरों को देने के लिए भी संसार में कमी नहीं है।

पुरुष-यज्ञ में अस्सी होम कौन-से हैं। पुरुषयज्ञ में तो पञ्चमहायज्ञों (ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञ) का विधान है, परन्तु यहाँ तो अस्सी होम बताये गये हैं। जैसा ऊपर कहा गया है मनुष्य की आयु साधारणतया सौ वर्ष है। इनमें २०-२५ वर्ष तक मनुष्य पराश्रित रहता है, दूसरों से सहायता लेता है, परन्तु निकृष्ट ब्रह्मचर्य के अन्तिम ४-५ वर्ष में वह दूसरों की सेवा के कुछ योग्य हो जाता है। गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास में तो वह किसी-न-किसी रूप में निश्चित ही होम=त्याग का

जीवन बिताता है, अतः जीवन के अस्सी वर्ष होम हैं। हमें अपने जीवन को परोपकारमय बनाना चाहिए।

मन्त्रांश का एक दूसरा भाव भी हो सकता है। अन्न का अशन, भोजन करना ही होम है। इस बात को समझने के लिए तनिक होम की प्रक्रिया पर ध्यान दीजिए। यज्ञ सामग्री में जो द्रव्य डाले जाते हैं वे चार प्रकार के होते हैं–१. सुगन्धित–कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि २. पुष्टिकारक–घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूँ, उड़द आदि ३. मिष्ट–शक्कर, शहद, छुहारे, दाख आदि ४. रोगनाशक–सोमलता अर्थात् गिलोय आदि ओषधियाँ। हम जब भोजन करने लगें तो हितकारक, पुष्टिकारक, रोगनाशक, बल और पराक्रम देनेवाले अन्न का ही सेवन करें। हम शरीर के लिए भोजन करें। हम जीने के लिए भोजन खाएँ, खाने के लिए न जीएँ। नाप-तोलकर, उचित मात्रा में भोजन करना ही जीवन-यज्ञ का होम है।

समिधो ह तिस्त्र–अब चौथे प्रश्नोत्तर को देखिए। प्रश्न है इस यज्ञ में कितनी समिधाएँ हैं? उत्तर है–तीन। संसार यज्ञ की तीन समिधाएँ हैं–सत्त्व, रजस् और तमस्। इन तीन समिधाओं से ही यह संसार-यज्ञ प्रकाशित होता है। अथवा तीन मुख्य ऋतुएँ–गर्मी, सर्दी और वर्षा–ये तीन समिधाएँ हैं। अथवा पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक–ये तीन समिधाएँ कही जा सकती है।

पुरुषपक्ष में तीन समिधाएँ हैं–बाल्य, तारुण्य और वार्धक्य। इसकी व्याख्या यूँ भी की जा सकती है कि जिस प्रकार अग्नि को प्रज्वलित रखने के लिए उसमें समिधाएँ डाली जाती हैं ठीक उसी प्रकार जीवन-यज्ञ को प्रज्वलित एवं प्रकाशित रखने के लिए उसमें आध्यात्मिक, आधिदैविक

और आधिभौतिक तीन प्रकार के ज्ञान का उपार्जन करना चाहिए। दूसरे शब्दों में ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड—ये तीनों जीवन को प्रकाशित करनेवाले हैं, हमें अपने जीवन में इन तीनों का समन्वय करना चाहिए। अथवा इस संसार में रहते हुए प्रत्येक मनुष्य को प्रकृति, जीव और परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान का सम्पादन करना चाहिए।

सप्त होतार ऋतुशो यजन्ति—अब अन्तिम प्रश्नोत्तर को लीजिए। प्रश्न है कितने होता नियमानुसार यज्ञ करते हैं? उत्तर है सात होता नियमानुसार यज्ञ करते हैं। संसारयज्ञ में सूर्य की सात किरणें ही होता है। ये लगातार यजन करती रहती हैं। ये सात किरणें ही जल को वाष्प बनाकर उसे आकाश में पहुँचाती हैं, जहाँ से वह वृष्टिरूप में फिर भूमि पर पहुँच जाता है। ये सूर्यकिरणें पृथिवी की अपवित्रता को भी नष्ट करती हैं। इस प्रकार ये निरन्तर यजन कार्य करती हैं।

अब शरीरयज्ञ में देखिए। सात प्राण ही सात होता हैं। सात प्राण सदा नियमानुसार कार्य करते रहते हैं। जब मनसहित ज्ञान और कर्मेन्द्रियाँ थककर कार्य छोड़ देती हैं तब भी ये प्राण निरन्तर जागते रहते हैं। यदि प्राणों की भी विश्राम करने की इच्छा हो जाए तो मनुष्य की मृत्यु ही हो जाती है। सप्त होता से तात्पर्य पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, छठा मन और सातवाँ जीवात्मा भी हो सकता है। ये नियमानुसार यजन करते रहते हैं।

यहाँ हम एक अन्य व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। वेद में कई स्थानों पर शरीर में रहनेवाले सप्त ऋषियों का वर्णन है। यजुर्वेद में कहा है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।

—यजुः० ३४.५५

इस शरीर में सात ऋषि स्थापित किये गये हैं। वे सात ऋषि प्रमादरहित होकर इसकी रक्षा करते हैं। वे सात ऋषि कौन-से हैं, यह जानने के लिए अथर्ववेद के निम्न मन्त्र को देखिए–

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥

–अथर्व० १०.८.९

एक पात्र है, जिसका मुख नीचे की ओर और पैंदा ऊपर की ओर है। उसमें विश्वरूप यश भरा हुआ है। उसके किनारे पर सात ऋषि बैठे हुए हैं, जो इस महान् आत्मा के रक्षक हैं।

यह एक वैदिक प्रहेलिका है। हमारा सिर ही वह पात्र है जिसका मुख नीचे की ओर तिरछा खुला है और पैंदा=कपाल ऊपर की ओर है। उस पात्र के किनारे सात ऋषि बैठे हैं, जो इस शरीर की रक्षा करते हैं।

इस मन्त्र से स्पष्ट है कि ये सात ऋषि ग्रीवा से ऊपर शिरोभाग में ही होने चाहिएँ, अतः वे सात ऋषि हैं–दो चक्षु, दो नासिका-छिद्र, दो कान और एक मुख।

जब तक ये ऋषि रहते हैं तब तक ये इस आत्मा के रक्षक रहते हैं, परन्तु यदि ये राक्षस बन जाएँ तो मनुष्य को नष्ट कर देते हैं। हमें ऐसा प्रबल उद्योग करना चाहिए कि ये ऋषि बने रहें। इन सात द्वारों से कोई बुरा विचार हमारे भीतर नहीं जाना चाहिए। हम कानों से भद्र सुनें, आँखों से भद्र देखें, नाक से विषय-वासना की गन्ध न लें, अपितु प्रभु के दर्शन करें (यद्यपि ईश्वर के दर्शन आत्मा से होते हैं, परन्तु प्राणों का निरोध भी आवश्यक है) और मुख से ऐसे पदार्थों का सेवन करें जो हमारे शरीर का पोषण करनेवाले और

ब्रह्मचर्य-पालन में सहायक हों। साधनामय जीवन बिताने से ये ऋषि बने रहते हैं और आत्मा को गिरने से बचाते हैं।

जब हम कानों से अभद्र और गाली-गलौच सुनने लगते हैं, आँखों से रूपों को देखकर हमारे मनों में विकार आ जाए, नाक से हम विषय-वासनाओं की दुर्गन्ध ही सूँघते रहें और मुख से अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करते रहें तो हमारा पतन होगा।

वेद कहता है सात होता नियमानुसार यज्ञ करते हैं। इन् ऋषियों को यज्ञशील बनाओ। इन्हें योगमय बनाओ, भोगमय नहीं। योगमय और यज्ञमय जीवन से कल्याण होगा। भोगमय जीवन से हमारा विनाश होगा।

कोऽअस्य वेद भुवनस्य नाभिं को द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षम्।
कः सूर्यस्य वेद बृहतो जनित्रं को वेद चन्द्रमसं यतोजाः॥
वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिं वेद द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षम्।
वेद सूर्यस्य बृहतो जनित्रमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः॥

—यजुः० २३.५९-६०

प्रश्न—१. (अस्य भुवनस्य) इस भुवन, संसार की (नाभिम्) नाभि, केन्द्र, बन्धन-स्थान, आश्रय को (कः वेद) कौन जानता है?

२. (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक को तथा (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षलोक को (कः) कौन जानता है?

३. (बृहतः) महान् (सूर्यस्य) सूर्य के (जनित्रम्) उत्पत्ति को, उत्पत्ति के मूलकारण को (कः वेद) कौन जानता है?

४. (चन्द्रमसम्) चन्द्रमा के विषय में (कः वेद) कौन जानता है कि वह (यतोजाः) कहाँ से उत्पन्न हुआ है?

उत्तर—१. (अहम्) मैं (अस्य भुवनस्य) इस भुवन=जगत् की (नाभिः) केन्द्र, बन्धन-स्थान, आश्रय, कारण को (वेद) जानता हूँ।

२. मैं (द्यावापृथिवी) द्युलोक=प्रकाशमयलोक और पृथिवी-लोक=अप्रकाशमयलोक तथा (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्ती अन्तरिक्षलोक को (वेद) जानता हूँ।

३. (बृहतः सूर्यस्य) महान् सूर्य के (जनित्रम्)

उत्पत्ति स्थान, उत्पत्ति के कारण को भी वेद जातना हूँ।

४. (अथ) और (चन्द्रमसम्) चन्द्रमा के विषय में भी (वेद) जानता हूँ (यतोजा:) जहाँ से यह उत्पन्न होता है।

यहाँ पहले मन्त्र में चार प्रश्न हैं और दूसरे में उनके उत्तर। सभी प्रश्नों की मूलभावना एक है। यहाँ बड़े-बड़े लोक-लोकान्तरों के कारणों को पूछा है। मन्त्रों में प्रयुक्त 'नाभि', 'जनित्र' और 'यतोजा:' शब्द एक ही अर्थ के सूचक एवं बोधक हैं। यह संसार निराधार खड़ा दिखाई देता है, एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है यह इतना विशाल ब्रह्माण्ड किसके सहारे खड़ा है? पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि सभी लोक निरन्तर घूम रहे हैं, लगातार दौड़ लगा रहे हैं, ये गिर क्यों नहीं पड़ते? यह सूर्य तो बहुत विशाल है। हमारी जैसी साढ़े तेरह लाख पृथिवियाँ इसमें समा सकती हैं। इस इतने बड़े सूर्य की उत्पत्ति किसने की और किस वस्तु से की? यह चन्द्रमा कहाँ से उत्पन्न हुआ? ये प्रश्न बड़े गम्भीर हैं।

यह संसार बड़ा ही विचित्र है, यह जगत् अद्‌भुत है और उसकी विशालता का कहीं पारावार ही नहीं दिखाई देता। सृष्टि के आरम्भ से ही मनुष्य इसके रहस्यों के उद्‌घाटन में लगा है। उसने पृथिवी को मथने का प्रयत्न किया है, उसने सागर की गहराई का पता लगाने का प्रयत्न किया है और उसने लोक-लोकान्तरों में पहुँचने का यत्न किया है।

उसने इस संसार के उत्पत्तिकारण को जानने का प्रयत्न किया है, परन्तु मानव अपने प्रयत्नों में सफल नहीं हो पाया।

यह संसार आज भी उसके लिए दुर्ज्ञेय और दुर्बोध है। यह विश्व उसके लिए एक पहेली बना हुआ है। और सत्य बात तो यह है कि साधारण मानव लाख प्रयत्न करने पर भी इसे जान नहीं सकता। क्यों नहीं जान सकता, इसका उत्तर ऋग्वेद के नासदीयसूक्त में मिल जाता है। लीजिए, अवलोकन कीजिए—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥

—ऋ० १०.१२९.६

कौन ठीक-ठीक जानता है और कौन ठीक-ठीक बता सकता है कि यह विविध प्रकार की सृष्टि किस उपादानकारण से और किस निमित्तकारण से उत्पन्न हुई है। बड़े-बड़े ज्ञानी और विद्वान् भी इस जगत् के निर्माण होने के पश्चात् उत्पन्न हुए हैं, इसलिए कौन जानता है कि किन कारणों से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है।

कारण तीन हैं—१. निमित्तकारण—जिसके बनाने से कुछ बने और न बनाने से न बने। आप स्वयं बने नहीं और दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे।

निमित्तकारण दो प्रकार के हैं। एक—सब सृष्टि को कारण से बनाने, धरने और प्रलय करने तथा सबकी व्यवस्था रखनेवाला मुख्य निमित्तकारण परमात्मा। दूसरा—परमेश्वर की सृष्टि से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर करनेवाला साधारण निमित्तकारण जीव।

२. उपादानकारण—जिसके बिना कुछ न बने, वही अवस्थान्तररूप होके बने और बिगड़े भी। जैसे प्रकृति-परमाणु जिसको सब संसार के बनने की सामग्री कहते हैं, वह जड़ होने से आप न बन और न बिगड़ सकती है, किन्तु दूसरे के

बनाने से बनती–बिगड़ती है। इसका नियमपूर्वक बनना वा बिगड़ना परमेश्वर और जीव के अधीन है।

३. साधारणकारण–जो बनने में साधन और साधारण निमित्त हो। जब कोई वस्तु बनाई जाती है तब जिन–जिन साधनों से अर्थात् ज्ञान, दर्शन, बल, हाथ और नाना प्रकार के साधन तथा दिशा, काल और आकाश साधारणकारण कहाते हैं।

उदाहरण के रूप में घड़े को बनानेवाला कुम्हार निमितकारण, मिट्टी उपादानकारण और दण्ड–चक्र आदि साधारणकारण कहाते हैं।

यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई? इसका उपादानकारण क्या है? इसका निमित्तकारण क्या है। सृष्टि की उत्पत्ति की प्रक्रिया क्या है? इसके उपादान और निमित्तकारणों का स्वरूप क्या है? आदि प्रश्नों का ठीक–ठीक उत्तर संसार में कोई भी नहीं दे सकता। एक व्यक्ति कुम्हार के पास खड़ा है तो वह बता सकता है कि कुम्हार ने मिट्टी ली, उसे पानी में गूँथकर चाक पर रखा और नाना प्रकार के रूप प्रदान कर दिये। बड़े–बड़े ज्ञानी भी संसार बनने के पश्चात् उत्पन्न हुए, उन्होंने जगत् को बनते देखा नहीं। सबसे पहले तो पृथिवी बनी, क्योंकि इसके बिना मनुष्य रहता कहाँ? फिर सूर्य आदि लोकों का निर्माण हुआ। तत्पश्चात् नाना प्रकार की वनस्पतियों का प्रादुर्भाव हुआ, फिर पशु और पक्षी बने। जब भोग्य वस्तुओं का निर्माण हो गया तब मनुष्य उत्पन्न हुए, अतः वह इसके विषय में ठीक–ठीक कैसे बता सकता है? विद्वान् और ज्ञानी लोग अपने ज्ञान और कल्पना के आधार पर थोड़ा–सा ही जान सकते हैं।

यह संसार तो दुर्ज्ञेय और दुर्बोध है। हमें इतना तो पता

है कि यह संसार प्रकृति से बना है और परमात्मा ने बनाया है तथा जो वस्तुएँ पहले बनीं वे पिछलों के लिए भोग्य हैं, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि मनुष्य पशु और पक्षियों को मारकर खा जाए। सुनो, वेद का स्पष्ट आदेश है—

पयः पशूनां रसमोषधीनाम्। —अथर्व० १९.३१.५

हे मानव! तुझे पशुओं का दूध और ओषधियों का रस ही सेवन करना है।

यह सृष्टि कहाँ से बनी, कैसी बनी? इत्यादि बातों पर ही सोच-सोचकर अपना समय नष्ट मत करो। अधिक सोचने से बुद्धि विकृत हो सकती है। इस विषय में बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य और गार्गी का सुन्दर संवाद है। पाठकों की ज्ञान-वृद्धि के लिए हम उसे यहाँ उद्धृत करते हैं—

मिथिला (बिहार) प्रदेश के महाराज जनक ने 'बहुदक्षिण' नामक यज्ञ किया। उस यज्ञ में कुरु और पाञ्चाल देशों के बहुत-से ब्राह्मण एकत्र हुए। महाराज जनक ने ब्राह्मणों को खूब दक्षिणा दी। यज्ञ-समाप्ति पर महाराज जनक के हृदय में यह जानने की इच्छा प्रकट हुई कि इन ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता कौन है? तब महाराज ने अपनी गोशाला से दूध देनेवाली, बछड़ोंसहित एक सहस्र गाएँ मँगवाईं। प्रत्येक गौ के सीङ्ग में दस-दस सोने की मुहरें भी बाँधी गईं। जब गौएँ सभा-मण्डप के समीप आकर खड़ी हो गईं तब जनकजी ने ब्राह्मणों से कहा—"हे पूज्य ब्राह्मणो! आपमें जो सबसे अधिक ब्रह्मवित् हो, वह इन गायों को ले-जाए।" महाराज जनक की घोषणा सभी ने ध्यानपूर्वक सुनी, परन्तु कोई भी उन गौओं को हाँककर ले-जाने के लिए तैयार नहीं हुआ। सभा में एक सन्नाटा छाया हुआ था। अन्त में परमतेजस्वी

याज्ञवल्क्य उठे और अपने शिष्य से बोले, "प्यारे सामश्रवा! इन गौओं को हाँककर आश्रम में ले-जाओ।"

गुरु की आज्ञा पाते ही शिष्य गौओं को हाँककर आश्रम की ओर ले-जाने लगा। यह देख सभा में उपस्थित ब्राह्मणों को बड़ा क्रोध आया और वे कहने लगे कि हम लोगों के समक्ष याज्ञवल्क्य 'मैं ब्रह्मवेत्ता हूँ' ऐसा कैसे कह सकता है? तब जनक के होता अश्वल आगे बढ़कर याज्ञवल्क्य से पूछने लगे "त्वं नु खलु याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसि। हे याज्ञवल्क्य! क्या तुम्हीं हम सबमें ब्रह्मिष्ठ हो? क्या हमने वेद नहीं पढ़े हैं? क्या हम वेद नहीं जानते?"

यद्यपि ये शब्द अपमानजनक थे, परन्तु याज्ञवल्क्य मुस्कराकर नम्रता से बोले—"नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयं स्म। भाई! ब्रह्मवित् को तो हम नमस्कार करते हैं। हमें तो आश्रम के लिए गौओं की आवयश्यकता थी, इसलिए हमने गौएँ ली हैं।"

अब तो महर्षि याज्ञवल्क्य पर चारों ओर से प्रश्नों की बौछार होने लगी। वे भी तुरन्त उन प्रश्नों का समाधान कर उन्हें निरुत्तर कर देते। अश्वल, आर्तभाग, भुज्यु, उशस्त और उद्दालक ने उनसे कई गम्भीर और जटिल प्रश्न पूछे और याज्ञवल्क्य ने उनका तुरन्त समाधान कर दिया।

जब सब ब्राह्मण थक गये तो गार्गी ने आगे बढ़कर कहा, "हे याज्ञवल्क्य! यह पार्थिव जगत् जलों में ओत-प्रोत है, तो जल किसमें ओत-प्रोत हैं? उसने उत्तर दिया—वायु में। वह फिर बोली—वायु किसमें ओत-प्रोत हैं? उसने कहा—गार्गी! अन्तरिक्षलोकों में। वह बोली—अन्तरिक्षलोक किसमें ओत-प्रोत हैं? उसने कहा—गन्धर्वलोकों में। उसने पूछा—गन्धर्वलोक किसमें ओत-प्रोत हैं? याज्ञवल्क्य बोले—आदित्यलोकों में।

उसने पुनः प्रश्न किया—आदित्यलोक किसमें ओत-प्रोत हैं? याज्ञवल्क्य ने बताया—चन्द्रलोकों में। और यह चन्द्रलोक किसमें ओत-प्रोत हैं? गार्गी का अगला प्रश्न था। नक्षत्रलोकों में—याज्ञवल्क्य का उत्तर था।

अपने क्रम को जारी रखते हुए गार्गी ने पूछा—नक्षत्रलोक किसमें ओत-प्रोत हैं? याज्ञवल्क्य बोले—देवलोकों में। वह बोली—देवलोक किसमें आविष्टि हैं? उन्होंने उत्तर दिया—इन्द्रलोक में। गार्गी ने पूछा—इन्द्रलोक किसमें समाविष्ट हैं? वे बोले—प्रजापति लोकों में। उसने अगला प्रश्न किया—प्रजापतिलोक किसमें ओत-प्रोत हैं? वे बोले—गार्गि! ब्रह्मलोकों में। गार्गी बोली—ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत हैं? याज्ञवल्क्य बोले—**"गार्गि! माऽति प्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तत्"** हे गार्गि! अतिप्रश्न मत पूछ, ऐसा न हो कि तेरा सिर गिर पड़े, तेरी बुद्धि भ्रम में पड़ जाए।

इस सारे सन्दर्भ का तात्पर्य यह है कि अतिप्रश्न (जो विषय प्रत्यक्ष न हो और अनुमान से भी कठिनता से जाना जा सके) वर्जित हैं। प्रश्न-माला से अनवस्था दोष भी आ जाता है।

मनुष्य को तो वर्त्तमान के साथ जुट जाना चाहिए; इसी में कल्याण है, क्योंकि भूत और भविष्यत् का चिन्तन तो दुःखों को ही उत्पन्न करता है।

इन लोकों के कारणों को कौन जानता है? उत्तर है—मैं जानता हूँ। सर्वज्ञाननिधान परमात्मा ही वस्तुतः इन लोक-लोकान्तरों के कारण को जानता है। ऋग्वेद के नासदीयसूक्त में भी यही बात कही गई है—

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥

—ऋ० १०.१२९.७

यह विविध प्रकार की सृष्टि जिस कारण से उत्पन्न हुई है उसको तो यदि कोई ठीक-ठीक जानता है तो इस जगत का अध्यक्ष परमोत्कृष्ट रूप में विद्यमान परमात्मा ही जानता है। इस विशाल ब्रह्माण्ड को यदि कोई धारण कर रहा है तो निश्चय ही परमात्मा ही धारण कर रहा है।

मूल प्रश्नोत्तर में—**'वेदाहम्'** मैं जानता हूँ, इतना ही कहा गया है। इसमें भी एक गूढ़ रहस्य है। इन प्रश्नोत्तरों में सृष्टि के निमित्त तथा उपादानकारण का वर्णन पहले हो चुका है। इनका पुनः उल्लेख ब्रह्मज्ञानी की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए हुआ है। भगवान् का प्रीतिमान कोई भक्त, कोई महाविद्वान् अथवा योगी इस संसार के रहस्यों को, लोक-लोकान्तरों के कारण को जान सकता है। योगदर्शन के विभूतिपाद में योगी के जान लेने योग्य कुछ बातों का वर्णन निम्न सूत्रों में हुआ है—

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।। —यो० द० ३.२५

सूर्य में संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) करने से भुवनों=लोकों का ज्ञान हो जाता है। सूर्य लोकों का केन्द्र है, अतः सूर्य का ज्ञान होने से खगोल का ज्ञान हो जाता है।

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्।। —यो० द० ३.२६

चन्द्रमा में संयम करने से तारों की स्थिति का ज्ञान हो जाता है। आकाश-मण्डल में चन्द्रमा शीघ्र-गतिवाला है। उसमें संयम करने से उसकी शीघ्र गति के कारण रेवती आदि तारा-समूह का ज्ञान होता है, जोकि ग्रहों को लक्षित कराने में साधनभूत हैं।

ध्रुवे तद् गतिज्ञानम्।। —यो० द० ३.२७

ध्रुव में संयम करने से इन ताराओं की गति का ज्ञान होता है।

परम पिता परमात्मा तो सम्पूर्ण लोकों के, समस्त ब्रह्माण्ड के रचयिता हैं। वह तो सृष्टि के उपादानकारण प्रकृति के भी अधिष्ठाता है, अतः जो उस ब्रह्म को जान लेता है, वह इस सारे संसार के पदार्थों के कारणों जो जान लेता है। इसीलिए उपनिषदों में कहा है–

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ॥
–मुण्डको० २.२५

जिस परमात्मा में सौर-लोक, पृथिवी और आकाश पिरोया हुआ है तथा जिसमें मन सब इन्द्रियों के साथ पिरोया हुआ है, उसी एक अन्तर्यामी आत्मा को जानो। दूसरी बातों को छोड़ दो। वह प्रभु ही अमृत का सेतु=पुल है, पार होने का साधन है।

उस परमात्मा की प्राप्ति योग द्वारा ही सम्भव हैं, इसीलिए तो अर्जुन के मिष से संसार के सभी मानवों को उपदेश देते हुए श्रीकृष्णजी ने कहा था–

तस्माद्योगी भवार्जुन।। –गीता० ६.४६

हे अर्जुन! तू योगी बन।

उस परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करने के लिए–

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ –मु० १.२.१२

उस अविनाशी प्रभु को जानने के लिए जिज्ञासु हाथ में भेंट लेकर किसी ऐसे गुरु के पास जाए जो वेदवेत्ता और ब्रह्मनिष्ठ हो।

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णोऽअश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥
इयं वेदिः परोऽअन्तः पृथिव्याऽअयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयꣳसोमो वृष्णोऽअश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥

—यजुः० २३.६१, ६२

प्रश्न—१. हे विद्वन्! मैं (त्वा) तुझसे (पृथिव्याः) पृथिवी का (परम्) परला (अन्तम्) अन्त, सीमा (पृच्छामि) पूछता हूँ।

२. मैं तुझसे वह स्थान (पृच्छामि) पूछता हूँ (यत्र) जहाँ (भुवनस्य) इस जगत् का (नाभिः) केन्द्र, बन्धन स्थान है।

३. मैं (त्वा) तुझसे (वृष्णः) वृषा, सेचन-समर्थ (अश्वस्य) अश्व के, बलवान् पुरुष के (रेतः) रेत, पराक्रम, शक्ति, वीर्य को (पृच्छामि) पूछता हूँ।

४. मैं तुझसे (वाचः) वाणी के (परमम्) परम (व्योम) व्योम को (पृच्छामि) पूछता हूँ।

उत्तर—१. (इयम्) यह (वेदिः) यज्ञवेदि, परोपकार, भूमध्यरेखा (पृथिव्याः) पृथिवी का, शरीर का (परः अन्तः) परला सिरा, परमसीमा, सबसे बड़ा अन्त है।

२. (अयम्) यह सर्वलोक-प्रसिद्ध (यज्ञः) पूजनीय-परमेश्वर, यज्ञ (भुवनस्य) संसार की (नाभिः) नाभि, बन्धन-स्थान है।

३. (अयम्) यह (सोमः) सोम (वृष्णः) सेचन-समर्थ, (अश्वस्य) अश्व का, पराक्रमशाली, ज्ञानी मनुष्य का (रेतः) पराक्रम, शक्ति है।

४. (अयम्) यह (ब्रह्मा) ब्रह्मा=चतुर्वेदवित् अथवा सकल-विद्याप्रकाशक साक्षात् ब्रह्म (वाचः) वाणी का (परमम्) सर्वोत्कृष्ट (व्योम) आकाश=स्थान है।

यहाँ भी प्रथम मन्त्र में चार प्रश्न हैं और दूसरे मन्त्र में उनके उत्तर। आइए, एक-एक प्रश्नोत्तर पर विचार करें।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः—पहला प्रश्न है पृथिवी का परम अन्त कौन-सा है, अर्थात् पृथिवी कहाँ समाप्त होती है? उत्तर है यह वेदि पृथिवी का परला सिरा, अन्तिम सीमा है।

यज्ञ-पक्ष में सचमुच यह वेदि ही पृथिवी का अन्त है। वेदि यज्ञ का आधार है। वेदि के बिना यज्ञ हो ही नहीं सकता, अतः यज्ञ का पूर्णरूप इस पृथिवी का अन्त है।

महर्षि दयानन्द ने वेदि का अर्थ मध्यरेखा किया है। वस्तुतः इस गोल पृथिवी का परम अन्त भूमध्यरेखा है, वहाँ भूमि की आकर्षण आदि शक्तियों की चरम सीमा है।

अब एक दूसरे रूप में इस प्रश्नोत्तर पर विचार कीजिए। एक व्यक्ति यज्ञवेदि के निकट खड़ा होकर प्रश्न कर रहा है कि इस पृथिवी का उरला अन्त तो यह है जहाँ हम खड़े हैं, परन्तु इसका परला अन्त कौन-सा है? उत्तर है यह वेदि ही भूमि की अन्तिम सीमा है। इस उत्तर पर विचार करने से पता लगता है कि वेद के अनुसार पृथिवी गोल है। यदि पृथिवी चपटी होती तो यह उत्तर बन ही नहीं सकता। पृथिवी गेंद के समान गोलाकार होने से यदि किसी स्थान से सीधी रेखा

खींची जाए तो उस रेखा का अन्तिम बिन्दु प्रारम्भिक बिन्दु में ही मिल जाएगा। इसीलिए मन्त्र में कहा गया कि पृथिवी का आरम्भ भी इसी वेदि में है और अन्त भी इसी वेदि में है।

पृथिवी का एक अर्थ शरीर भी है। यह हम पीछे अथर्ववेद के प्रमाण से सिद्ध कर आये हैं। वेदि=यज्ञवेदि= परोपकार ही शरीर का सबसे बड़ा अन्त है। यदि दुर्लभ मानवदेह पाकर भी परोपकार नहीं किया तो जीवन व्यर्थ ही है। इस शरीर का सबसे बड़ा फल तो यही है कि हम परोपकार करें।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह प्रतिक्षण दूसरों से सहायता और उपकार ग्रहण करता है। जीवन-यात्रा-सम्बन्धी उसकी कोई भी क्रिया ऐसी नहीं जिसे वह दूसरों से निरपेक्ष होकर कर सके, अतः उसे भी दूसरों की सेवा और सहायता अवश्य ही करनी चाहिए। इस विषय में महर्षि दयानन्द ने कितने मार्मिक शब्दों में लिखा है–

"यदि अपना भला ही करना उद्देश्य है तो मनुष्यता क्या हुई? अपने भले का भाव तो गधों में भी पाया जाता है। पशुमात्र अपने लिए जीता है। परोपकार और परहित साधन का नाम ही मनुष्यत्व है।"

एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं–

"जैसे परमेश्वर ने सब प्राणियों के सुख के अर्थ इस जगत् के सब पदार्थ रचे हैं, वैसे मनुष्य को भी परोपकार करना चाहिए।"

–स० प्र० तृतीय समु०

अब गोकरुणानिधि का एक वचन पढ़िए–

"देखो, परमात्मा का स्वभाव कि जिसने सब विश्व और विश्व के सब पदार्थ परोपकार ही के लिए रच रक्खे हैं, वैसे तुम भी अपना तन, मन, धन परोपकार ही के लिए

अर्पण करो।"

परोपकार की महत्ता पर बल देते हुए स्वामी विवेकानन्दजी लिखते हैं–

हम यह निश्चित जान सकते हैं कि हम एक-न-एक दिन अवश्य मरेंगे और जब ऐसा है तो फिर किसी सत्कार्य के लिए ही हम क्यों न मरें! हमें चाहिए कि हम अपने सारे कार्यों को, जैसे खाना-पीना, सोना-जागना, उठना-बैठना आदि सभी–आत्मत्याग की ओर लगा दें। भोजन द्वारा तुम अपने शरीर को पुष्ट करते हो, परन्तु उससे क्या लाभ हुआ, यदि तुमने उस शरीर को दूसरों की भलाई के लिए अर्पण न किया? इसी प्रकार तुम पुस्तकें पढ़कर अपने मस्तिष्क को पुष्ट करते हो, परन्तु उससे कोई लाभ नहीं, यदि समस्त संसार के हित के लिए तुमने उस मस्तिष्क को लगाकर आत्मत्याग न किया। चूँकि सारा संसार एक है और तुम इसके एक अकिञ्चन अंश हो, इसलिए केवल इस तुच्छ स्वयं के अभ्युदयार्थ यत्न करने की अपेक्षा यह श्रेष्ठ है कि तुम अपने करोड़ों भाइयों की सेवा करते रहो।"

–विवेकानन्द साहित्य भाग ५ पृष्ठ ३३७

पशु-पक्षी, वनस्पतियाँ भी उपकार करती हैं, अतः हे मानव! तू भी परोपकार कर, क्योंकि–

यो वै सामर्थ्ययुक्तश्च नोपकारं करोति वै।
तत्सामर्थ्यं भवेद् व्यर्थं परत्र नरकं व्रजेत्॥

–शि० पु० को० सं० ४०.५७

जो सामर्थ्ययुक्त होकर भी परोपकार नहीं करता, उसका वह सामर्थ्य व्यर्थ ही होता है और मरकर वह नरक को जाता है। (दुःख विशेष को प्राप्त होता है, कीट, पतङ्ग आदि योनि में जन्म पाता है)।

एक कवि ने तो यहाँ तक कह दिया है–

अधिकारपदं प्राप्य नोपकारं करोति यः।
अकारो लोपमात्रेण ककारद्वित्वतां व्रजेत्॥

जो अधिकार पद को पाकर भी परोपकार नहीं करता उसके जीवन को धिक्कार है। ('अधिकार' का अ निकालने पर शेष रहता है 'धिकार' अब 'क' को द्वित्व करने पर 'धिक्कार' हो जाता है।)

मानव-जीवन का सबसे बड़ा अन्त परोपकार है, अतः मनुष्य को जीवनभर परहित-चिन्तन और परोपकार में प्रवृत्त रहना चाहिए।

अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः–अब दूसरे प्रश्नोत्तर को लीजिए। इस संसार की नाभि क्या है? उत्तर है–यह यज्ञ इस संसार की नाभि है।

वैदिक-साहित्य में केवल अग्निहोत्र का नाम यज्ञ नहीं है। यज्ञ बहुत व्यापक पदार्थ है। सब प्रकार के लोकोपयोगी कार्यों का नाम यज्ञ है। इस संसार का बन्धन यज्ञ, परोपकार=पारस्परिक सहायता है। यदि प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र रहकर अपनी सत्ता स्थिर रखना चाहे तो असम्भव है, क्योंकि सृष्टि के पदार्थ तो बनते ही यज्ञ=सङ्गतीकरण के कारण से हैं, अतः यज्ञ को संसार की नाभि=बन्धनहेतु कहना सर्वथा उचित एवं सङ्गत है।

वैदिक साहित्य में यज्ञ की महिमा का विस्तृत रूप में उल्लेख हुआ है। यहाँ हम शतपथब्राह्मण काण्ड १३, अध्याय ३, ब्राह्मण ७ का अविकल अनुवाद प्रस्तुत करते हैं–

निश्चय ही इस यज्ञ का नाम प्रभु है। जहाँ यह यज्ञ किया जाता है वहाँ सब वस्तुओं की बहुतायत हो जाती है। सचमुच इस यज्ञ का नाम विभु है। जहाँ इस यज्ञ का

अनुष्ठान होता है वहाँ सब कुछ विभूतियुक्त हो जाता है। यह यज्ञ व्यष्टि है। जहाँ इसका यजन होता है वहाँ सब-कुछ व्यष्ट (थोड़ी मात्रा में) हो जाता है । यह यज्ञ विधृति नामक है, जहाँ यह यज्ञ होता है वहाँ सभी का विशेष धारण होता है। यह यज्ञ व्यावृत्ति नामक है, जहाँ यह यज्ञ किया जाता है वहाँ सभी व्यावृत्त एक दूसरे से विशेषतावाला हो जाता है। यह यज्ञ ऊर्जस्वान् नामवाला है, जहाँ यह यज्ञ अनुष्ठित होता है वहाँ सभी कुछ बलयुक्त एवं प्राणमय हो जाता है। यह यज्ञ पयस्वान् नामक है, जहाँ यह यज्ञ किया जाता है वहाँ सभी कुछ पयोयुक्त हो जाता है। इस यज्ञ को ब्रह्मवर्चसी कहते हैं, जहाँ इस यज्ञ का अनुष्ठान होता है वहाँ ब्रह्मतेज से देदीप्यमान ब्रह्मवर्चसी ब्राह्मण उत्पन्न होते हैं। यह यज्ञ 'अतिव्याधि' नामक है। जहाँ इसका अनुष्ठान होता है वहाँ निर्भय एवं अकम्प क्षत्रिय उत्पन्न होते हैं। यह यज्ञ 'दीर्घ' कहाता है, जहाँ यह यज्ञ होता है वहाँ 'दीर्घारण्य' (विस्तृत क्षेत्र) हो जाता है। यह यज्ञ 'क्लृप्ति' नामवाला है, जहाँ इसका यजन किया जाता है वहाँ सब कुछ क्लृप्त=समर्थ हो जाता है। निश्चय ही यह यज्ञ 'प्रतिष्ठा' है। जहाँ इस यज्ञ का अनुष्ठान होता है, वहाँ सब-कुछ प्रतिष्ठित हो जाता है।

शतपथब्राह्मण में ही एक अन्य स्थान पर लिखा है—

सर्वेषां वा एष भूतानां सर्वेषां देवतानामात्मा यद्यज्ञः तस्य समृद्धिमनुयजमानः प्रजया पशुभिर्ऋध्यते। वि वा एष प्रजया पशुभिर्ऋध्यते। यस्य धर्म्मो विदीर्यते॥

—शतपथ० १४.३.२.१

यह यज्ञ सब भूतों तथा सब देवताओं का आत्मा है। इस यज्ञ की समृद्धि से यजमान की प्रजा और पशुओं के द्वारा समृद्धि होती है। यज्ञ की हानि से यजमान की प्रजा और

पशुओं से हानि होती है।

भगवद्गीता में भी यज्ञ के महत्त्व पर उत्तम प्रकाश डाला गया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

—गीता ३.१०

प्रजापति परमात्मा ने कल्प के आरम्भ में यज्ञसहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि को प्राप्त होओ। यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित कामनाओं को देनेवाला होवे।

प्रत्येक शुभकार्य यज्ञ के अन्तर्गत है, इसीलिए शतपथ-ब्राह्मण में कहा गया है—

'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' —शत० १.७.१.५

श्रेष्ठतम, उत्तम-से-उत्तम कर्म ही इस संसार के बन्धन, स्थिति के कारण हैं।

यज्ञ का अर्थ परमात्मा भी है। यजुर्वेदीय पुरुषसूक्त में कहा है—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाᳬसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

—यजुः० ३१.७

उस सच्चिदानन्द पूर्णपुरुष परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और (छन्दांसि) अथर्ववेद उत्पन्न हुए। **'यज्ञो वै विष्णुः'** (शत० १.१.२.१३) से यज्ञ नाम विष्णु का है और विष्णु का अर्थ सर्वव्यापक परमेश्वर है। जो सबका पूजनीय हो, जो सबको यथायोग्य देता हो, सब पदार्थों की यथायोग्य सङ्गति=सम्मेलन करता हो, वह यज्ञ है। परमेश्वर से बढ़कर

और किसमें ये गुण हो सकते हैं? परमेश्वर में ये गुण चरम सीमा तक पहुँचे हुए हैं, अतः वही इस ब्रह्माण्ड का बन्धन=नियमन करता है। वही इस संसार को ठीक रूप से चलाता है।

अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः—अब तीसरे प्रश्नोत्तर को लीजिए। प्रश्न है—मैं सेचन-समर्थ अश्व के रेतः के विषय में पूछता हूँ। उत्तर है—यह सोम सेचन-समर्थ अश्व का रेत, वीर्य, शक्ति है।

इस मन्त्र के रहस्य को हृदयङ्गम करने से पूर्व सोम शब्द का वास्तविक अर्थ समझ लीजिए। प्रायः पाश्चात्य ईसाई लेखकों के अटकलपच्चू अनुवाद पढ़ते-पढ़ते साधारण जनता की यह धारणा बन गई है कि सोम एक मदकारी वस्तु है। यह सोमरस प्राचीन आर्यों का प्रिय पेय था, शराब का ही दूसरा नाम सोम है। प्राचीन आर्य सोमरस पीते थे, अतः वे मद्यप=शराबी थे।

वेद में सोम सुरा=शराब के अर्थ में कहीं भी नहीं आया है। जो लोग यह समझते हैं कि सोम एक वृक्ष का नाम है, उस वृक्ष को और उसके रस को ही सोम कहते हैं, वे भ्रम में हैं। देखिए वेद स्वयं क्या कहता है—

सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्राह्मणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः ॥

—अथर्व० १४.१.३

जो सोम नामक ओषधि=बूटी को पीसते हैं और इसके रस को पीकर सोमपान का इच्छुक यह समझता है कि मैंने सोमरस का पान कर लिया है, वह कुछ नहीं समझा। जिस दिव्य ज्ञानमय भक्तिरूप सोम को वेदज्ञ और ब्रह्मवेत्ता लोग जानते हैं, उसको साधारण मनुष्य नहीं जानता।

इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि सोमवल्ली एक बूटी है, परन्तु आध्यात्मिक आनन्द का नाम भी सोम है। सांसारिक नशे तो थोड़ी देर में उतर जाते हैं। नानकजी ने कहा है–

माड़ा नशा शराब का उतर जाय प्रभात।
नामखुमारी नानका चढ़ी रहे दिन रात॥

बस भक्तिरस ही वस्तुतः सोम है। वेद में एक स्थान पर कहा है–

सुरा त्वमसि शुष्मिणी॥ –यजुः० १९.६

हे प्रभो! बलकारी सुरा तो तू है।

निम्न मन्त्र में तो सोम को बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया है–

धानाः करम्भः सक्तवः परिवापः पयो दधि।
सोमस्य रूपं हविषऽ आमिक्षा वाजिनं मधु॥
–यजुः० १९.२१

धान, करम्भ (जई, अथवा दही मिला सत्तू) परीवाप, दूध, दही, हविष (खीर अथवा घी) आमिक्षा (आधा ज़मा दही) अन्न और मधु–ये सोम के रूप हैं।

इस प्रकार वेद में सोम का अर्थ शराब बिल्कुल नहीं है। अब आप मन्त्र पर आइए।

वृषा–अश्व का वीर्य क्या है? उत्तर है–यह सोम=वनस्पति, आध्यात्मिक आनन्द ही वृषा–अश्व का वीर्य है। अश्व शब्द बल, पराक्रम, शक्ति और ज्ञान का सूचक है। अब प्रश्न का स्वरूप यह बना कि अश्वशक्ति किससे प्राप्त होती है? उत्तर है कि सोम से अश्वशक्ति प्राप्त होती है।

यहाँ वेद ने संकेत किया है कि यदि शारीरिक और बौद्धिक उन्नति अभीष्ट है तो वनस्पति का सेवन करें। सोम

आदि ओषधियों और वनस्पतियों में ही अश्वशक्ति है। जो लोग कहते हैं कि मांस-भक्षण से शक्ति प्राप्त होती है वे इस मन्त्र से बोध लें। जिस वाज=बल-प्राप्ति, वाजीकरण के लिए मनुष्य प्रयत्न करता है, उसे वाजी=घोड़ा केवल घास खाकर ही प्राप्त करता है और वाजी बनता है, मांस खाकर नहीं। वनस्पति में जो शक्ति है वह मांस में नहीं है, इस बात को पाश्चात्य डाक्टरों ने भी स्वीकार किया है। लीजिए, अवलोकन कीजिए-

चारलस डारविन लिखते हैं-प्राचीनकाल में मनुष्य बड़ी भारी संख्या में शाकाहारी ही थे। (Decent of men P. १५६) और मैं विस्मित हूँ कि ऐसे असाधारण मज़दूर मेरे देखने में कभी नहीं आये जैसेकि चिली (Chili) की खानों में काम करते हैं। वे सब दृढ़ और बलवान् हैं और वे सब शाकाहारी हैं।

इसी प्रकार न्यूयार्क ट्रिब्यून (Newyork Tribune) के सम्पादक कि० होरेस लिखते हैं-मेरा अनुभव है कि मांसाहारी की अपेक्षा शाकाहारी दस वर्ष अधिक जीता है।

प्रो० जोहन रे०एफ०आर०एस० लिखते हैं कि मनुष्य जीवन के पालन-पोषण के लिए जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह सब वनस्पति द्वारा प्राप्त हो सकती है।

—History of Plants, Book 1 Chap. 24

राजपूत मांस नहीं खाते थे फिर भी वे कितने शूरवीर थे यह किसी से छिपा नहीं है। उनकी वीरता इतिहास के पृष्ठों में सुनहरी अक्षरों में लिखी हुई है। राणा साङ्गा, महाराणा प्रताप और मानसिंह के नाम एक बार तो मुर्दों में भी जीवन फूँक देते हैं।

राणा साङ्गा के शरीर पर अस्सी घावों के चिह्न थे। इनमें

से एक भी चिह्न उनकी पीठ पर नहीं था। जितने घाव थे वे सब मुख और सीने पर थे। राजपूत पीठ दिखाना तो जानते ही न थे, मर जाते थे, परन्तु पीठ नहीं दिखाते थे। यही अवस्था महाराणा प्रताप की थी।

राजा मानसिंह भी वीरता में अद्वितीय थे। वे अकबरी सेना की शान थे। एक बार अकबर ने मानसिंह के सेनापतित्व में काबुल को विजय करने के लिए एक राजपूती सेना भेजी। काबुल के सिंहासन पर उस समय एक पच्चीस वर्षीय युवक आरूढ़ था। राजपूतों की तीक्ष्ण तलवार के सामने पठान ठहर न सके और भाग खड़े हुए। भागते हुए पठानों के नौजवान सरदार को लज्जा अनुभव हुई। उसने सोचा कि दाल खानेवाले राजपूतों को पीठ दिखाने से तो मर जाना उत्तम था। बस, वह अकेला ही वापस लौटा और राजा मानसिंह ने इस वीर को अकेला वापस आते देखकर अपनी सेना को आज्ञा दी कि कोई सैनिक इस पठान सरदार पर आक्रमण न करे। वीरता इस बात में है कि एक के साथ एक युद्ध करे। राजा मानसिंह ने उठते हुए युवक अपने २२ वर्षीय भांजे को उस पठान से द्वन्द्व-युद्ध के लिए भेजा। दोनों सेनाएँ दोनों जवानों को टकटकी बाँधकर देखने लगीं। राजपूत और पठान की टक्कर थी। दाल और मांस का साम्मुख्य=मुक़ाबला था।

दोनों युवक आमने-सामने हुए। राजा मानसिंह के भांजे ने पठान सरदार से कहा कि मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि पहला वार तुम करो। पठान सरदार ने तलवार का भरपूर वार किया, परन्तु राजपूत युवक ने ऐसी फुर्त्ती और सफाई से काट दिया कि उसे देखनेवाले दाँतों में अंगुली दबा गये।

अब राजा मानसिंह के भांजे की बारी आई। उसने इस

शक्ति से तलवार का वार किया कि तलवार पठान सरदार की लोहे की टोपी को चीरती हुई उसके शरीर के दो टुकड़े करती हुई, घोड़े की पीठ को भी काटती हुई भूमि से जा लगी। राजपूत प्रसन्नता से नाच उठे। राजा मानसिंह ने उसे हृदय से लगाकर उसका माथा चूमा।

यह थी राजपूती वीरता। यह था राजपूती तलवार का चमत्कार, जो दूध, सब्जी और दाल पर ही पलते थे। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि सच्ची वीरता और मांसभक्षण का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः यदि सेचनसमर्थ शक्ति की अभिलाषा है तो मांस का परित्याग कर कन्दमूल, शाक, ओषधियों और वनस्पतियों का सेवन कीजिए।

अश्व का अर्थ ज्ञानी भी होता है। जो सकल विद्याओं में अपनी गति रखता हो उसे अश्व कहते हैं। ऐसे विद्वानों के भी दो भेद हैं। एक वे जिनकी विद्या अपने लिए होती है, जो अपने ज्ञान को प्रकट नहीं कर सकते। दूसरे, वे होते हैं जो अपने ज्ञानभण्डार से दूसरों को भी लाभान्वित करते हैं। इन दूसरी प्रकार के विद्वानों को वेद ने वृषा अश्व=सेचन की शक्ति से युक्त ज्ञानी कहा है। एक स्थान के जल को दूसरे स्थान में डालने को सेचन कहते हैं। जो अपनी विद्या को अपने अन्दर से निकालकर उसे दूसरों के हृदय और मस्तिष्क में संक्रान्त कर सके उसे वृषा-अश्व कहते हैं। ऐसे महापुरुष की शक्ति सोम होती है। सोम से तात्पर्य यहाँ शुद्ध, शान्तिदायक विवेक, ज्ञान, सत्य तथा आध्यात्मिक आनन्द है। ये ज्ञानी मनुष्य विमल-विवेक प्राप्त कर आध्यात्मिक आनन्द से आनन्दित होकर अपना सारा व्यवहार चलाते हैं। प्रभु के बल के आधार पर ही वे दूसरों को सुमार्ग पर चलाने में समर्थ होते हैं। याज्ञवल्क्य, महर्षि वसिष्ठ, योगेश्वर कृष्ण

और ऋषिवर दयानन्द आदि महात्मा इसी कोटि के महापुरुष थे।

ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम—अब चौथे प्रश्नोत्तर को लीजिए। प्रश्न है वाणी का परम-व्योम=उत्पत्ति-स्थान कहाँ है? उत्तर है— चतुर्वेदवित् ब्रह्मा अथवा परमात्मा ही वाणी का उत्पत्ति-स्थान है।

वाणी की सफलता ज्ञानोपार्जन और ज्ञानवितरण—विद्याप्राप्ति और विद्यादान करने में है। व्यर्थ तथा बेहूदा बकवास में वाणी की शक्ति नष्ट होती है। इसीलिए प्रभु ने उपदेश दिया है कि वाणी का परमस्थान ब्रह्मा है। चारों वेदों के ज्ञानी को ब्रह्मा कहते हैं। सब वाणियों का सार, सब वाणियों में शिरोमणि वेदवाणी ही है। वही सब वाणियों का आश्रय है।

वाणी निराश्रय न हो जाए, अतः मनुष्य को चाहिए कि वह सत्यविद्या का अभ्यास करके उस विद्या के प्रचार और प्रसार में लगा रहे, परन्तु विद्या हम पात्र को ही दें। निरुक्त में क्या उत्तम कहा है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्॥

—नि० २.४.१

विद्या ब्राह्मण के पास आकर बोली—हे ब्राह्मण! मैं तेरी निधि हूँ, तू मेरी रक्षा कर। मुझे कभी ऐसे मनुष्य को न देना जो ईर्ष्यालु हो, कुटिल हो, या जितेन्द्रिय न हो। यदि तू ऐसा करेगा तो मैं वीर्यवती हो जाऊँगी।

यदि विद्या को=वाणी को सच्चे ब्राह्मणों का आश्रय मिल जाएगा तो वह संसार के कल्याण का सबसे बड़ा आश्रय सिद्ध होगी।

ब्रह्मा का अर्थ परमेश्वर भी होता है, अतः **ब्रह्मायं**

वाचः परमं व्योम का अर्थ यह भी हो सकता है कि परमात्मा ही वाणी का उत्पत्ति-स्थान है।

वाणी की उत्पत्ति कैसे हुई? यह एक अत्यन्त विवादास्पद समस्या है। पाश्चात्य भाषाविदों ने भाषा-उत्पत्ति के विषय में अनेक थ्योरियाँ=मत गढ़े हैं। यहाँ हम उनका विवेचन करते हैं—

निर्णय-सिद्धान्त (Conventional Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार जब मनुष्य ने देखा कि हाथ आदि के संकेतों द्वारा कार्य नहीं चल रहा है तो लोग एकत्र हुए और उन्होंने आवश्यक वस्तुओं के सांकेतिक नाम रख लिए। बस, यहीं से भाषा का आरम्भ हुआ।

यह सिद्धान्त निरर्थक और मूर्खतापूर्ण है। जब आरम्भ में कोई भाषा थी ही नहीं तो लोगों ने नामों का निर्णय कैसे किया? बिना विचार-विनिमय के न एकत्र होना सम्भव है और न सांकेतिक नामों का निर्णय। यदि वे एकत्र होने के लिए अथवा वस्तुओं के नाम निश्चय करने के लिए विचारों का आदान-प्रदान करने के योग्य थे तो फिर किसी दूसरी भाषा की आवश्यकता ही क्या थी? अतः यह सिद्धान्त भाषा की उत्पत्ति की समस्या के समाधान में असफल है।

अनुकरण-सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा की उत्पत्ति अनुकरण के आधार पर हुई। मनुष्य ने अपने आस-पास के जीव-जन्तुओं और वस्तुओं की ध्वनि के अनुकरण पर कुछ शब्दों का निर्माण किया फिर उसी पर भाषा का भवन खड़ा हुआ। इस सिद्धान्त को तीन उप-सिद्धान्तों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) **ध्वन्यात्मक अनुकरण-सिद्धान्त**—इसे भों-भोंवाद (Bow-Vow theory) भी कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार

मनुष्य ने अपने समीपवर्त्ती पशु-पक्षियों की ध्वनियों का अनुकरण कर अपने लिए शब्द बनाये फिर आगे चलकर उन्हीं के आधार पर भाषा खड़ी की। म्याऊँ (बिल्ली), में-में (भेड़), बे-बे (बकरी), मिमियाना, हिनहिनाना, फिटफिटिया आदि हिन्दीभाषा के शब्द, अंग्रेजी कक्कू, काक, बाऊ-वाऊ (कुत्ता) आदि शब्दों का आधार यही है।

यह सिद्धान्त भी वाहियात है। उत्तरी अमेरिका की 'अथबक्सन' जैसी कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं, जिनमें इस प्रकार के शब्दों का नितान्त अभाव है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि म्याऊँ से बिल्ली, बे-बे से बकरी और बाऊ-वाऊ से डाग (Dog) कैसे बन गया? एक बात और, इस सिद्धान्त के अनुसार बहुत थोड़े-से शब्दों का ही निर्माण हो सकता है, अतः स्वयं मैक्समूलर ने ही अपने जीवन काल में इसका खण्डन कर दिया था।

(ख) **अनुकरणात्मक अनुकरण**—इस सिद्धान्त के अनुसार धातु, काठ, जल आदि जड़ वस्तुओं के अनुकरण पर शब्दों का निर्माण हुआ। जैसे—कल-कल, छल-छल, खट-पट, ठक-ठक, झनझनाना आदि। अंग्रेजी में मर्मर (Murmur) आदि शब्द इसी प्रकार के हैं।

जैसे ऊपर कहा गया है इस सिद्धान्त के अनुसार भी भाषा के दस-बीस शब्दों का ही निर्माण हो सकता है, सम्पूर्ण भाषा का नहीं।

(ग) **दृश्यात्मक अनुकरण**—बगबग, दगदग, जगजग आदि शब्द तो भाषा में और भी न्यून होते हैं, अतः इसके आधार पर भी भाषा की गुत्थी नहीं सुलझती।

मनोभावाभिव्यक्ति सिद्धान्त—अंग्रेजी में इसे Pooh-Pooh अथवा Sing-Song theory कहते हैं, इस सिद्धान्त के

अनुसार प्रसन्नता, दुःख, विस्मय और घृणा आदि के भावावेश में मनुष्य के मुख से भिन्न-भिन्न शब्द निकलते हैं, जैसे—ओ, आह, छिः, धिक्, फाई, फट, पिश आदि। धीरे-धीरे इन्हीं से भाषा का विकास हो गया।

यह सिद्धान्त भी तर्क की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। यदि स्वभावतः आरम्भ में ऐसे ही शब्द निकले होते तो वे सभी मनुष्यों में एक-से ही होते। संसारभर के कुत्ते दुःखी होने पर एक ही प्रकार से भोंककर रोते हैं, परन्तु मनुष्य के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। संसार के सभी मनुष्य न तो दुःखी होने पर 'हाय' कहते हैं और न प्रसन्न होने पर 'वाह-वाह' बोलते हैं। साथ ही इन शब्दों से भी पूरी भाषा पर प्रकाश नहीं पड़ता। इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए वेनफे ने ठीक ही कहा है—ऐसे शब्द केवल वहाँ प्रयुक्त होते हैं जहाँ बोलना सम्भव नहीं होता, इस प्रकार यह भाषा नहीं है।

धातु सिद्धान्त—अंग्रेजी में इसे Ding-dong theory कहते हैं। इसका सूत्रपात प्रो० हेसे (Heyse) ने किया था। मैक्समूलर ने भी इसे स्वीकर किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार के प्रत्येक पदार्थ की अपनी ध्वनि होती है। यदि हम एक डण्डे से काठ, लोहे, सोने, कपड़े और काग़ज़ पर चोट मारें तो सबकी ध्वनी 'डिङ्ग-डाङ्ग' होगी या अलग-अलग होगी। इसी प्रकार आरम्भ में मनुष्य में एक सहजात शक्ति थी कि जिस किसी वस्तु के सम्पर्क में वह आता उसके लिए उसके मुख से एक प्रकार की ध्वनि निकल जाती थी। भिन्न-भिन्न वस्तुओं की ये ध्वन्यात्मक अभिव्यक्तियाँ ही 'धातु' थीं। आरम्भ में इन धातुओं की संख्या बहुत अधिक थी, परन्तु धीरे-धीरे पर्याय होने के

कारण अथवा योग्यतमावशेष सिद्धान्त के आधार पर इनमें बहुत–सी 'धातु' लुप्त हो गईं और केवल ४००–५०० धातुएँ शेष रहीं, उन्हीं से भाषा की उत्पत्ति हुई। इस सिद्धान्त के समर्थकों की यह भी मान्यता थी कि प्राचीन मनुष्य में वह शक्ति थी, परन्तु भाषा बन जाने पर उस शक्ति की आवश्यकता न रही, अतः वह धीरे–धीरे नष्ट हो गई।

यह सिद्धान्त भी तर्कशून्य है। आदिमानव के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पना के लिए कोई आधार नहीं है। दूसरे संसार की अनेक भाषाओं में धातु जैसी कोई वस्तु नहीं है। तीसरे भाषा केवल धातु से नहीं बनती। भाषा के लिए प्रत्यय, उपसर्ग आदि अन्य रूपों की भी आवश्यकता होती है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि शब्द धातुओं के आधार पर नहीं बने अपितु भाषा के अध्ययन और विश्लेषण के आधार पर भाषा की उत्पत्ति के सहस्रों वर्ष पश्चात् धातुओं का पता लगाया गया। फिर धातु में उपसर्ग या कृतप्रत्यय जोड़कर शब्द बनाने का ढङ्ग बाद में अपनाया गया। इसप्रकार इस मत में कोई तत्त्व नहीं है। यह सिद्धान्त इतना लचर और वाहियात था कि मैक्समूलर ने स्वयं ही इसे तिलाञ्जलि दे दी थी।

यो–हे–हो सिद्धान्त (Yo-he-ho theory)—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक न्वायार (Noier) नामक व्यक्ति थे। इस सिद्धान्त के अनुसार परिश्रम करते समय श्रमिक लोग थकान दूर करने के लिए कुछ शब्दों का उच्चारण करते हैं, जैसे धोबी 'हिय़ो' या 'छियो' कहते हैं। नाविक लोग यो–हे–हो बोलते हैं। इसी प्रकार सड़क कूटनेवाले मज़दूर भी 'हे' अथवा 'हूँ' कहते हैं। इसी प्रकार की ध्वनियों से भाषा का निर्माण हो गया।

यह सिद्धान्त सभी सिद्धान्तों से गया बीता है, क्योंकि इन शब्दों का भाषा में कोई स्थान नहीं है और न ही इन ध्वनियाँ का किसी विशिष्ट अर्थ से सम्बन्ध है।

इसी प्रकार इङ्गित-सिद्धान्त और विकास-सिद्धान्त भी तर्क-तुला पर धराशायी हो जाते हैं।

ये सारे सिद्धान्त न तो अकेले-अकेले और न सब मिलकर भी भाषा-उत्पत्ति की समस्या का समाधान कर सकते हैं। भाषा का विकास नहीं होता। भाषा तो दैवी देन होती है। जिस प्रकार बच्चा अपनी माता से भाषा सीखता है इसी प्रकार सृष्टि के आरम्भ में परमपिता परमात्मा वेदरूप में ज्ञान और भाषा दोनों प्रदान करता है। वेद में कहा है—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्। —ऋ० १०.७०.३

यज्ञरूप परमात्मा के द्वारा (पदवीयम्) पद और शब्द के सम्बन्धसहित (वाचः) वाणी (आयन्) प्राप्त होती है।

एक अन्य स्थान पर कहा है—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपा पशवो वदन्ति।

—ऋ० ८.१००.११

भाषा वेदज्ञान के रूप में परमात्मा द्वारा प्रदान की गई थी, उसी से मनुष्यों ने अपनी भाषा का निर्माण किया।

महर्षि पतञ्जलि भी भाषा को प्रभु-प्रदत्त ही मानते हैं—

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

—यो०द० १.२६

वह ईश्वर प्राचीन अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा आदि ऋषियों का भी गुरु है, उन्हें वेदज्ञान प्रदान करने के कारण। वह ईश्वर नित्य है वह काल का भी काल है, अतः वह कभी काल-कवलित नहीं होता।

मनुष्य को वाणी परमात्मा से ही मिलती है। ज्ञान भी परमात्मा से ही मिलता है। प्रभुप्रदत्त ज्ञान का अध्ययन, मनन और चिन्तन करने से ही मनुष्य ब्रह्मा बनता है, अतः वाणी का सबसे उत्तम और बड़ा स्थान और उत्पत्ति का कारण परमात्मा ही है। इसीलिए कहा है–**'ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम'**।

सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे।
दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः॥

—यजुः० २३.६३

शब्दार्थ–(सुभूः) सुन्दर विद्यमान सर्वोत्तम सत्तावाला (स्वयम्भूः) जो अपनी सत्ता से स्वयं प्रकाशित, उत्पत्ति और नाश से रहित (प्रथमः) सबसे पूर्व विद्यमान जगदीश्वर (महति) महान् (अर्णवे+ अन्तः) सागर के तुल्य संसार में (यतः), क्योंकि (ऋत्वियम्) ऋत्वनुकूल, समयानुसार (गर्भम्) गर्भ को, हिरण्यगर्भ को, बीज को (दधे) धारण करता है (ह) इसीलिए वह (प्रजापतिः) प्रजा का पालक, प्रजा का स्वामी होता है।

सुभूः–पूर्व मन्त्रों में ईश्वर का जो वर्णन हुआ है, वहाँ भगवान् का सृष्टि के साथ सम्बन्ध बताया गया है–कहीं स्पष्टरूप में और कहीं संकेतरूप में। ईश्वर को प्रजा का उत्पादक और पालक बताया गया है। कहीं लोगों को यह भ्रम न हो जाए कि परमेश्वर भी इस संसार की भाँति विकारी है; अतः मन्त्र के आरम्भ में ही परमात्मा को 'सुभूः' कहा गया है। परमेश्वर की सत्ता सदा उत्तम ही बनी रहती है, उसमें कभी विकार नहीं आता, कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। अथर्ववेद में इसी बात को और स्पष्ट किया गया है–

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्च नोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥

—अथर्व० १०.८.४४

वह परमेश्वर सब प्रकार की कामनाओं से रहित है, वह अचल एवं निष्कम्प है, वह अमृत है, जन्म-मरण के चक्र से रहित है, वह स्वयम्भू है, वह रस से तृप्त है, सदा अखण्ड और एकरस रहता है, उसमें किसी प्रकार की कोई कमी नहीं है; उस धीर, अजर और युवा आत्मा=परमात्मा को जानकर विद्वान् मृत्यु से भी नहीं डरता।

स्वयम्भूः—प्रभु केवल 'सुभूः' ही नहीं है, वह स्वयम्भूः भी है। उसे किसी ने उत्पन्न नहीं किया। उर्दू के शब्दों में वह खुद आया हुआ खुदा है। संसार तथा संसारी वस्तुओं को आश्रय की आवश्यकता होती है, परन्तु ईश्वर को किसी आश्रय की आवश्यकता नहीं है। वे तो अपनी सत्ता से स्वयं प्रकाशमान होते हैं। भगवान् को अपनी सत्ता के लिए किसी दूसरे आधार या आश्रय की आवश्यकता नहीं होती। हाँ, ये संसार के सारे पदार्थ उसीकी ज्योति से जगमगाते हैं, उसीके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं और उसीके आधार पर ठहरे हुए हैं।

प्रथमः—जिस समय इस विशाल ब्रह्माण्ड का निर्माण नहीं हुआ था, प्रभु उससे भी प्रथम=पूर्व विद्यमान था। कब से है वह प्रभु? सौ वर्ष पहले से? नहीं प्रथम—इससे भी पूर्व। तो क्या सहस्त्रों वर्ष पहले? नहीं, प्रथम—इससे भी बहुत पहले से। क्या लाखों वर्ष पूर्व से? नहीं, प्रथम—उससे भी पहले। तो क्या अरबों और खरबों वर्ष? नहीं, प्रथम—उससे भी पूर्व से। तो आखिर कब से? प्रथम, प्रथम प्रथम अनादि काल, सदा से वह प्रभु इस संसार में है। वह इस सृष्टि के पूर्व भी रहता है, सृष्टि के पश्चात् भी रहता है, इस सारी सृष्टि में व्यापक भी है, अतः वह प्रथम है।

इस प्रथम शब्द की व्याख्या ऐतरेय ऋषि ने "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (इस सृष्टि की रचना करके स्वयं भी

उसमें प्रविष्ट है) इन शब्दों में की है।

महति अर्णवे ऋत्वियं गर्भं दधे—वह परमात्मा इस समुद्र के समान विशाल संसार में ऋत्वनुकूल समय पर अपना सामर्थ्यरूप बीज डालकर इसे गर्भ धारण कराता है। यहाँ ऋत्वियं विशेषण ध्यान देने योग्य है। ऋत्वियं का अर्थ है समय अनुसार, जिसका समय आ गया हो। सृष्टि के पश्चात् प्रलय होती है, प्रलय की समाप्ति पर जब पुनः सर्ग का समय आता है तभी भगवान् सृष्टिरूप गर्भ धारण कराते हैं। इसी प्रकार जब किसी या किन्हीं जीवों के कर्मफल देने होते हैं तभी भगवान् उसको या उन्हें उनके अनुकूल गर्भ में भेजते हैं। यहाँ प्रभु मनुष्यों को भी स्पष्ट उपदेश कर रहे हैं कि तुम भी गर्भ-धारण में ऋतु का विचार कर लिया करो।

आज मानव पशु से भी गिर गया है। आज का मानव स्त्री को अपनी काम-वासनाओं को शान्त करने का एक साधनमात्र समझता है। आज कामना के वशीभूत होकर समय का विचार किये बिना खेल-खेल में ही सन्तानें उत्पन्न हो जाती हैं। यही कारण है आज जनसंख्या तीव्रगति से बढ़ रही है और यदि यह इसी प्रकार बढ़ी तो इसके परिणाम भयङ्कर होंगे।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि वेद तो दस सन्तान तक उत्पन्न करने की आज्ञा देता है, कहा है—

दशास्यां पुत्रानाधेहि (ऋ० १०.८५.४५) तू इस स्त्री में दस सन्तान उत्पन्न कर।

यह ठीक है वेद ने ऐसा आदेश दिया है, परन्तु वेद ने साथ ही यह भी तो कहा है—

बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश। —ऋ० १.१६४.३२

बहुत सन्तानवाले बहुत कष्ट पाते हैं। कैसी दुर्दशा होती

है बहुत सन्तानवालों की–

चैं चैं करें मैं मैं करें यह हँस रहा वह रो रहा।

जिस परिवार में सन्तानें अधिक होती हैं, वहाँ उनकी देखभाल ठीक प्रकार से नहीं हो सकती, उन्हें ठीक प्रकार से शिक्षित और दीक्षित नहीं किया जा सकता।

वेद के अनुसार सन्तान प्राप्त करने का अधिकार किसे है? सुनिए–

यद् धावसि त्रियोजनं पञ्च योजनमाश्विनम्।
ततस्त्वं पुनरायासि पुत्राणां नो असः पिता॥

–अथर्व० ६.१३१.३

यदि तू तीन योजन (१२ कोश) अथवा घोड़े के समान तीव्र वेग से पाँच योजन (२० कोश) दौड़ जाता है और वहाँ से पुनः लौट आता है, तू अपने उतने ही पुत्रों का पालक अथवा उत्पादक है। जिनमें ऐसी प्रचण्ड शक्ति है वे ही सन्तानोत्पत्ति के अधिकारी हैं।

वैदिक विवाह का उद्देश्य भोग नहीं है, क्योंकि–

A nation which seeks in sexual life nothing but pleasure is bound to disappear.

जो राष्ट्र विवाह की शय्या को केवल भोग-विलास के लिए ठीक समझता है वह जीवित नहीं रह सकता। उसका पतन अवश्यम्भावी है।

अधिक संसर्ग से, अत्यधिक मैथुन करने से सन्तान निर्बल और दुर्बल उत्पन्न होती है। कमजोर सन्तान उत्पन्न करना पाप है। स्वामी विवेकानन्दजी का कथन है–

Weaklings have no place in the world. It is a sin to be weak. It is a sin to beget weak children.

दुर्बल प्राणियों के लिए संसार में कोई स्थान नहीं है।

दुर्बल होना पाप है और निर्बल सन्तान उत्पन्न करना भी पाप है।

बच्चों को बिलख-बिलखकर मरने के लिए, वेश्या अथवा खूनी बनने के लिए, कङ्गाल और कायर बनने के लिए पैदा करना भारी असभ्यता है, अत्याचार है और भयङ्कर पाप है।

दासों के यहाँ दास सन्तानें उत्पन्न होती हैं। पवित्र और शक्ति-सम्पन्न माताएँ महात्माओं और वीरों को जन्म देती हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि महापुरुषों की माताएँ भी महान् थीं।

महान् और तेजस्वी सन्तान उत्पन्न करने के लिए ऋतुकालगामी बनो। आज परिवार-नियोजन के नारे लग रहे हैं। इस परिवार-नियोजन का अर्थ है उद्दाम भोग। इससे राष्ट्र का उपकार न होकर अपकार ही होगा। देश का कल्याण वैदिक परिवार-नियोजन से ही हो सकता है। वैदिक परिवार-नियोजन क्या है, यह महर्षि दयानन्द के शब्दों में पढ़िए-

"यावत् बालक के जन्म हुए पश्चात् दो महीने न बीत जावें तब तक पुरुष ब्रह्मचारी रहकर स्वप्न में भी वीर्य को नष्ट न होने देवे। भोजन, छादन, शयन, जागरणादि व्यवहार उसी प्रकार से करे, जिससे वीर्य स्थिर रहे और दूसरा सन्तान भी उत्तम होवे।" —संस्कारविधि, पुंसवनसंस्कार

यतो जातः प्रजापतिः—क्योंकि वह परमात्मा प्रकृति में अपना सामर्थ्य-बीज डालकर उसे गर्भ धारण कराता है, अतः वे प्रजापति हैं। प्रजापति कहकर उस परमेश्वर को सबका पालक, पोषक एवं रक्षक पिता बताया गया है। शासक की अपेक्षा पिता अधिक प्रिय होता है।

होता यक्षत्प्रजापतिꣳसोमस्य महिम्नः।
जुषतां पिबतु सोमꣳहोतर्यज॥ —यजुः० २३.६४

शब्दार्थ—(होता) होता (सोमस्य) ज्ञान और ऐश्वर्य की (महिम्नः) महिमा से (प्रजापतिम्) प्रजापति परमेश्वर की (यक्षत्) आराधना करे, पूजा करे और (जुषताम्) उसका प्रीतिपूर्वक सेवन करे तथा (सोमम्) ज्ञान, ऐश्वर्य, शान्ति और आध्यात्मिक आनन्द का (पिबतु) पान करे। हे (होतः) होता=भगवद्भक्त (यज) तू यजन कर।

होता सोमस्य महिम्नः प्रजापतिं यक्षत्—इस मन्त्र में प्रभु ने अपने पूजन, अपनी उपासना की विधि भी स्वयं बता दी है। भक्त को चाहिए कि वह भगवान् के अनन्त ऐश्वर्य, विपुलज्ञान और अखण्डशक्ति का चिन्तन करे।

जब कोई शिल्पी किसी वस्तु का निर्माण करने लगता है तो उसके निर्माण का ज्ञान पहले ही कर लेता है। इस विशाल ब्रह्माण्ड का रचयिता कितना बड़ा ज्ञानी है इसकी कल्पना करते-करते मनुष्य का मस्तिष्क चक्कर खाने लगता है।

कितना विशाल है यह संसार! यह सृष्टि इतनी विशाल है कि बड़े-बड़े वैज्ञानिक आजतक इसकी माप-तोल नहीं कर पाये और न भविष्य में कर पाएँगे। सैकड़ों और सहस्रों व्यक्तियों ने इसकी माप-तोल में जीवन खपा दिये, परन्तु वे इसका पार न पा सके।

यह पृथिवी कितनी विस्तृत है, इसमें कहाँ-कहाँ क्या-क्या रत्न छिपे हुए हैं, यह अभी भी अज्ञात है। समुद्र की गहराई का पता लगाना तो दूर की बात है, अभी तक तो वैज्ञानिक मानसरोवर झील की गहराई को मापने में भी असमर्थ रहे हैं। यह विस्तृत आकाश भी वैज्ञानिकों के लिए एक चुनौती के रूप में स्थित है। वैज्ञानिक अथक प्रयत्न करके अभी तक दो अरब सौर-मण्डलों का ही पता लगा पाये हैं। जितनी

बड़ी दूरबीन बनती जाती है उतने ही अधिक नक्षत्र दिखाई देने लगते हैं। इस संसार की विशालता और महत्ता का विचार करते-करते मनुष्य की बुद्धि थक जाती है। इस सृष्टि की विशालता से ही ईश्वर के सामर्थ्य आदि के विषय में भी समझ लेना चाहिए। यह प्रभु का ही सामर्थ्य है कि उसने अरबों और खरबों लोक-लोकान्तरों को धारण किया हुआ है। वह अकेला ही अपनी अनन्त शक्ति से इस सारे ब्रह्माण्ड को व्यवस्थितरूप में चला रहा है। उसकी व्यवस्था इतनी सुन्दर है कि ये लोक आपस में टकराकर नष्ट नहीं हो जाते।

जुषताम्—प्रजापति के गुणों का चिन्तन करके इन गुणों का सेवन करना चाहिए। प्रभु का सच्चा नाम-स्मरण क्या है, यह महर्षि दयानन्द के शब्दों में पढ़िए—

नाम-स्मरण इसको कहते हैं कि—**यस्य नाम महद्यशः** (यजुः० ३२.३) परमेश्वर का नाम बड़े यश, अर्थात् धर्मयुक्त कामों का करना है। जैसे ब्रह्म, परमेश्वर, ईश्वर, न्यायकारी, दयालु, सर्वशक्तिमान् आदि नाम परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव से हैं। जैसे 'ब्रह्म' सबसे बड़ा, 'परमेश्वर' ईश्वरों का ईश्वर, 'ईश्वर' सामर्थ्ययुक्त, 'न्यायकारी' कभी अन्याय नहीं करता, 'दयालु' सबपर कृपादृष्टि रखता, 'सर्वशक्तिमान्' अपने सामर्थ्य ही से सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करता, सहाय किसी का नहीं लेता, 'ब्रह्मा' विविधजगत् के पदार्थों का बनानेहारा, 'विष्णु' सबमें व्यापक होकर रक्षा करता, 'महादेव' सब देवों का देव, 'रुद्र' प्रलय करनेहारा आदि नामों के अर्थों को अपने में धारण करे, अर्थात् बड़े कामों में बड़ा हो, समर्थों में समर्थ हो, सामर्थ्यों को बढ़ाता जाए, अधर्म कभी न करे, शिल्पविद्या से नानाप्रकार के पदार्थों को बनावे, सब संसार में अपने आत्मा के तुल्य सुख-दुःख समझे, सबकी रक्षा करे, विद्वानों में विद्वान् होवे, दुष्टकर्म और दुष्ट कर्म करनेवालों को प्रयत्न से दण्ड और सज्जनों की रक्षा करे। इस प्रकार परमेश्वर के नामों का अर्थ जानकर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के

अनुकूल अपने गुण–कर्म–स्वभाव को करते जाना ही परमेश्वर का नामस्मरण है।" —स०प्र० एकादशसमुल्लास

प्रभु के इन और इस प्रकार के गुणों का सेवन करना चाहिए और सेवन भी निरन्तर, दीर्घकालपर्यन्त और श्रद्धापूर्वक करना चाहिए। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः॥
—यो०द० १.१४

तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धापूर्वक जब प्रभु की उपासना निरन्तर और बहुत समय तक की जाती है तब वह अभ्यास जड़ पकड़ पाता है, दृढ़ हो जाता है।

सोमं पिबतु—अनादर, अनास्था से किया चिन्तन कुछ भी लाभ नहीं देता। जब ईश्वर के साथ प्रीति करोगे, उसे प्राप्त करने के लिए आपके हृदय में उत्कण्ठा और तड़प होगी, तब आप उसके अनन्त ऐश्वर्य का, उसके आध्यात्मिक–आनन्द का पान कर सकोगे। इसीलिए मन्त्र के अन्त में प्रेरणा दी—

होतर्यज्ञ—हे होतः! यजन कर। यजन का अर्थ बहुत विस्तृत है। सङ्गतीकरण, देवपूजा, दान आदि सारे भाव यजन के अन्दर आ जाते हैं। श्रेष्ठपुरुषों की सङ्गति, पदार्थों का यथार्थ उपयोग, विद्या, धन आदि का दान, विद्वानों, अतिथियों, संन्यासियों का सत्कार, ज्ञान आदि के द्वारा परमात्मा की उपासना आदि—सब भाव यज्ञ के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसीलिए वेद में कहा है—'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' (यजुः० १८.२९) जीवन को यज्ञमय बनाओ। यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है, अतः हमारा सब समय शुभ कर्मों में व्यतीत हो।

होता का अर्थ है—देनेवाला तथा लेनेवाला। यज्ञ करानेवाले होता में भी दो गुण अवश्य होते हैं। केवल लेनेवाले ही न बनो, अपितु देना भी सीखो। यह भाव होता शब्द के अन्दर है। जिस प्रकार तालाब आदि में जल आता और जाता रहने से दूषित नहीं होता, वह शुद्ध और पवित्र बना रहता है, इसी प्रकार दान और आदान दोनों धर्मों के पालन से मनुष्य का जीवन श्रेष्ठ एवं पवित्र बना रहता है।

[१२]

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्तु वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्॥
—यजु:० २३.६५

शब्दार्थ—हे (प्रजापते) प्रजापते! (त्वत्) तुझसे भिन्न (अन्यः) कोई दूसरा (एतानि) इन और (ता) उन (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपों को (न) नहीं (परिबभूव) पूर्णरूपेण वश में कर सकता है। (वयम्) हमलोग (यत्कामाः) जिस-जिस पदार्थ की कामनावाले होकर (ते जुहुमः) तेरा आश्रय लें, तुझ से माँगें, (तत्) वह-वह कामना योग्य अस्तु (नः अस्तु) हमें प्राप्त हो। आपकी कृपा से हम (रयीणाम्) भौतिक और आध्यात्मिक धनों के (पतयः) स्वामी, (स्याम) होवें।

प्रार्थना भी एक विज्ञान है। प्रभु से क्या प्रार्थना करें और कैसे करें उसका एक नमूना यहाँ दे दिया गया है।

इस ब्रह्माण्ड को परमात्मा ही अपने वश में रख सकता है। यह सम्पूर्ण विश्व उसी का है, अतः हमें जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उसी से माँगे। यदि सच्चे हृदय से प्रार्थना की जाएगी तो वह अवश्य ही फलीभूत होगी। हाँ, माँगने से पूर्व हमें अपने-आपको उसका अधिकारी अवश्य बना लेना चाहिए। जब हम परमात्मा से ऐसा नाता जोड़ लेंगे तो भौतिक और आध्यात्मिक ऐश्वर्य=मोक्ष सभी कुछ हमें प्राप्त हो जाएगा।[१]

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवेदानन्दतीर्थस्वामिनः शिष्येण जगदीश्वरानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिता वैदिक-प्रश्नोत्तरी व्याख्या पूर्त्तिमागात्॥

---

१. इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या मद्रचित 'प्रार्थनालोक' में पढ़िए।

वैदिक प्रश्नोत्तरी

वेद में गद्य और पद्य शैली तो है ही साथ ही प्रार्थनात्मक, उपदेशात्मक, व्यंगात्मक और प्रश्नोत्तर-शैलियाँ भी हैं। वेद में इस प्रश्नोत्तर शैली को अनेक स्थानों पर अपनाया गया है। यजुर्वेद के 23वें अध्याय में 18 मन्त्रों में बहुत ही सुन्दर प्रश्नोत्तरों का निरूपण हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक में उन्हीं प्रश्नोत्तरों की विशद व्याख्या पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

पूज्य स्वामी वेदानन्दजी तीर्थ ने अपनी एक पुस्तक ब्रह्मोद्योपनिषद् में आत्मा और परमात्मा के संबंध में रोचक चित्रण प्रस्तुत किया है। पुस्तक बहुत उत्तम है, परन्तु इस पुस्तक में दो मन्त्रों की व्याख्या तो बहुत विस्तृत थी, शेष मन्त्रों की व्याख्या अति संक्षिप्त, अतः स्वामी जगदीश्वरानन्द जी ने सभी मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या की है। यह पुस्तक स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ की पुस्तक की ही विस्तृत व्याख्या है।

आर्योपदेशकों व विद्वानों के लिए बने-बनाए व्याख्यान हैं। इन्हें आर्यसमाज के सत्संगों में पढ़कर सुनाएँ, स्वयं पढ़ें, दूसरों को पढ़ाएँ और पढ़ने के लिए प्रेरित करें।